आचार्य महाप्रज्ञ

अनेकान्त है तीसरा नेत्र

अनेकान्त है तीसरा नेत्र

जैन विश्व भारती प्रकाशन

अनेकान्त है तीसरा नेत्र

आचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादक : **मुनि दुलहराज**

प्रकाशक : **जैन विश्व भारती**
लाडनूं–३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

सौजन्य : **स्व. भीखमचंदजी सेठिया**
की पुण्य स्मृति में उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती कमला देवी एवं सुपुत्र
श्री राजकुमार, उमेश कुमार, मुकेश कुमार
नीरज सेठिया द्वारा हिन्दुस्थान टी कम्पनी,
विशन जी नगर, जलगाँव (महाराष्ट्र)

चतुर्थ संस्करण : **दिसम्बर २०००**

मूल्य : **चालीस रुपये**

मुद्रक : **श्री वर्द्धमान प्रैस, नवीन शाहदरा दिल्ली-११० ०३२**

ANEKANTA HAI TISRA NETRA
Acharya Mahaprajna

Rs. 40.00

प्रस्तुति

आज का युग सापेक्षवाद, समन्वय और सह-अस्तित्व से बहुत परिचित है। इन शब्दों के पीछे जो सिद्धान्त काम कर रहा है, जो विचार-दर्शन, आलोक-रश्मियां विकीर्ण कर रहा है, वह है अनेकान्त और स्याद्वाद।

अनेकान्त एक चक्षु है। इन दो चर्म चक्षुओं से व्यक्ति से स्थूलरूप को देखा जा सकता है, किन्तु उसके अन्तर्भाव को न तो देखा जा सकता है और न समझा जा सकता है। सामने वाला व्यक्ति या राष्ट्र क्या सोच रहा है, क्यों सोच रहा है, कहां सोच रहा है और किस अवस्था में सोच रहा है? क्या कर रहा है, कब कर रहा है, कहां कह रहा है और किस अवस्था में कह रहा है—इनका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। पदार्थ में घटित होने वाले परिवर्तनों को भी नहीं समझा जा सकता।

अनेकान्त का चक्षु वस्तु-जगत् के स्थूल और सूक्ष्म-दोनों पर्यायों या परिवर्तनों को जानने की सर्वोत्तम दार्शनिक प्रणाली है। इस प्रणाली के द्वारा अनाग्रह का विकास किया जा सकता है, विवादों को सुलझाया जा सकता है और संघर्ष की चिंगारियों को शांत कर अन्ततः विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

प्रेक्षा-ध्यान शिविर
राणा-वास मारवाड़
१६-८-८२

विषय सूची

	पृष्ठ
१. सह-अस्तित्व	११
२. समन्वय	२५
३. सापेक्षता	४१
४. तीसरा नेत्र (१)	५९
५. तीसरा नेत्र (२)	७३
६. स्वतन्त्रता	८९
७. सापेक्ष-मूल्यांकन	१०३
८. सन्तुलन	११९
९. परिवर्तन	१३३
१०. आशावादी दृष्टिकोण	१४९

प्रवचन १

संकेतिका

१. किं तत्तं ? तत्त्व क्या है ? तत्त्व है—शाश्वत और अशाश्वत का जोड़ा ।

२. अस्तित्व के स्तर पर—चेतन-अचेतन ।

३. जीवन के स्तर पर—

- प्राण-अपान का विपरीत दिशागामित्व ही जीवन है ।
- उत्तेजक और शिथिलीकारक स्नायु-संस्थान का सन्तुलन ही जीवन है ।
- ज्ञान-केन्द्र और काम-केन्द्र का सन्तुलन ही जीवन है ।

४. विकास की दृष्टि से अंगूठा विकास का आधार है ।

५. विरोधी युगल या द्वन्द्वात्मक जीवन के आधार पर सप्रतिपक्ष का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है ।

६. विरोधी मांग, आकांक्षा—इससे फलित होता है—सह-अस्तित्व ।

७. भेद या योग के जगत् में सप्रतिपक्षता का सिद्धान्त ।

- अभेद या प्रयोग के जगत् में यह सिद्धान्त नहीं है ।

८. चेतना के अनावृत होने पर ये द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं । फिर अज्ञान, दुःख और अशान्ति नहीं होती ।

९. द्वन्द्वात्मक अस्तित्व—

- चोर में छिपा साहूकार, उसे जगाए ।
- साहूकार में छिपा चोर, उसे सुलाए ।

१०. जगत् में जो है, वह सप्रतिपक्ष है—

- ऋतुचक्र चलता है।
- प्रकाश और अन्धकार है।
- शरीर में ज्ञान-केन्द्र और काम-केन्द्र हैं।
- ज्ञान और अज्ञान का युगल है।
- सुख और दुःख का युगल है।
- शक्ति और अशक्ति का युगल है।

११. उत्पत्ति और विनाश—

- साठ खरब कोशिकाएं हैं।
- प्रति सेकेंड पांच करोड़ कोशिकाएं नष्ट होती हैं।
- प्रति सेकेंड पांच करोड़ नई कोशिकाएं पैदा होती हैं।

सह-अस्तित्व

नमस्कार :

'जेण विणा लोगस्य ववहारो सव्वहा ण निव्वडइ।
तस्य भुवणेक्कागुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥'

मैं अनेकान्तवाद को नमस्कार करता हूं, इसलिए कि उसके बिना जगत् का व्यवहार नहीं चलता। सत्य की प्राप्ति की बात तो दूर, समाज और परिवार के सम्बन्ध का निर्वाह भी नहीं होता। अनेकान्त सबकी धुरी में है, इसलिए वह समूचे जगत् का गुरु है, एकमात्र गुरु और अनुशास्ता है। सारा सत्य और सारा व्यवहार उसके द्वारा अनुशासित हो रहा है, इसलिए मैं उसको नमस्कार करता हूं।

किं तत्त्वम्?

मनुष्य की यह अनादिकालीन जिज्ञासा रही है कि सत्य क्या है? तत्त्व क्या है? जबसे मनुष्य ने सोचना प्रारम्भ किया, तब से उसके मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि सच्चाई क्या है? वास्तविकता क्या है? तत्त्व क्या है? 'किं तत्त्वम्'—यह प्रश्न हमारी सृष्टि में लाखों-लाखों बार पूछा गया। जिसकी भी प्रज्ञा जागी, उसने यह प्रश्न अवश्य ही पूछा।

एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—किं तत्तम्? तत्त्व क्या है?

भगवान् ने कहा—उपन्नेइ वा! उत्पन्न होना तत्त्व है, उत्पाद तत्त्व है।

मन में सन्देह उभरा, यदि उत्पन्न होना ही तत्त्व है, तो निरन्तर उत्पाद होता चला जाएगा। आबादी इतनी बढ़ जाएगी कि पैर टिकाने जितना स्थान भी उपलब्ध नहीं होगा। प्राणी से प्राणी सट जाएगा, पदार्थ से पदार्थ सट जाएगा और फिर आगे पैदा होने वालों के लिए कहीं अवकाश नहीं रहेगा। चाह अनचाह रह जाएगी। चाह कुंआरी रह जाएगी। पैदा होने वाले कहां पैदा होंगे? उन्हें अवकाश ही नहीं मिलेगा। बड़ी समस्या है।

उत्पाद वाली बात समझ में नहीं आई, तब गौतम ने फिर पूछा—भन्ते! किं तत्त्वम्? तत्त्व क्या है?

भगवान् ने कहा—'विगमेइ वा' ! विनष्ट होना तत्त्व है।

मन पुनः आशंका से भर गया। उत्पन्न होना भी तत्त्व है और विनष्ट होना भी तत्त्व है। उत्पन्न होना और नष्ट होना, जन्मना और मरना—यह तत्त्व कैसे? जन्मा और मरा, फिर शेष क्या रहा? बात पूरी तरह समझ में नहीं आई।

उन्होंने फिर पूछा—भन्ते ! किं तत्तम्? तत्त्व क्या है?

भगवान् ने कहा—ध्रुवेइ वा ! ध्रुव रहना, शाश्वत रहना तत्त्व है?

गौतम का मन समाहित हो गया। उत्पन्न होना, नष्ट होना और अपने अस्तित्व में बने रहना—त्रिपदी तत्त्व है, सत्य है। सृष्टि, प्रलय और अस्तित्व—यह तत्त्व है। शाश्वत् और अशाश्वत् का एक युगल है। यह तत्त्व है। जैसे स्त्री और पुरुष का एक जोड़ा होता है—वैसे ही प्रकृति में भी एक जोड़ा होता है शाश्वत् और अशाश्वत् का। कोरा शाश्वत् या नित्य भी नहीं और कोरा अशाश्वत् या अनित्य भी नहीं। शाश्वत् और अशाश्वत, नित्य और अनित्य—यह युगल होता है। यह है तत्त्व। इस सृष्टि में कोरा नित्य होता तो उसके लिए नामकरण की सुविधा नहीं होती। क्या नाम रखा जाए? यदि अनित्य है तब तो नित्य को जाना जा सकता है और नित्य है तो अनित्य को जाना जा सकता है। किन्तु यदि कोरा नित्य होता या कोरा अनित्य होता तो कोई नामकरण नहीं हो पाता। यदि कोरा प्रकाश होता, अन्धकार नहीं होता तो प्रकाश का नामकरण ही नहीं हो पाता। जितने नाम बनते हैं, वे विरोधी के आधार पर बनते हैं। विरोधी दल का होना, यह केवल पोलिटिकल कन्सेप्ट ही नहीं है। विरोधी का होना यह मूलभूत सिद्धान्त है सारी प्रकृति की व्याख्या का, सारे तत्त्व की व्याख्या का, यदि विरोधी न हो तो कोई तत्त्व हो ही नहीं सकता। कोई तत्त्व है, कोई सत्य है, इसका अर्थ है कि उसका विरोधी तत्त्व है। यदि विरोधी न हो तो तत्त्व का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन है और अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन का और अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य है।

अनेकान्त का सूत्र

अनेकान्त का एक सूत्र है—सह-प्रतिपक्ष। केवल युगल ही पर्याप्त नहीं है, विरोधी युगल होना चाहिए। समूची प्रकृति में, समूची व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। ज्ञान है तो अज्ञान भी है। दर्शन है, अदर्शन है। सुख है, दुःख है। मूर्च्छा है, जागरण है। जीवन है, मृत्यु है। शुभ है, अशुभ है। ऊंचा है, नीचा है। अन्तराय है, निरन्तराय है। शक्ति का विघ्न है, शक्ति की जागृति है। कर्मशास्त्रीय

व्याख्या में विरोधी युगल है।

हमारा जीवन विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। यदि विरोधी युगल समाप्त हो जाएं तो जीवन भी समाप्त हो जाए। हठयोग के आधार पर जीवन की व्याख्या है—प्राण और अपान का योग। प्राणधारा के पांच प्रकार हैं। उनमें एक है प्राण और एक है अपान। प्राण ऊपर से नीचे जाता है, नाभि तक उसके स्पन्दन जाते हैं। अपान नीचे से नाभि तक आता है। जब तक ये विरोधी दिशाएं बनी रहती हैं, यह विपरीत दिशागामित्व बना रहता है—अपान का नीचे से ऊपर आना और प्राण का ऊपर से नीचे जाना—तब तक जीवन है। जब यह क्रम टूट जाता है तब जीवन टूट जाता है। जीवन का टूट जाना या मृत्यु का घटित हो जाना—इसका अर्थ है प्राण और अपान का बाहर निकल जाना। जब विरोधी दिशाएं या विपरीत दिशागामित्व सिमट जाता है तब जीवन समाप्त हो जाता है।

दो केन्द्र

शरीर में दो केन्द्र है। एक हैं—ज्ञान-केन्द्र और दूसरा है—काम-केन्द्र। दोनों विरोधी हैं। काम-केन्द्र चेतना को नीचे ले जाता है। ज्ञान-केन्द्र चेतना को ऊपर ले जाता है। एक है अधोगमन और दूसरा है ऊर्ध्वगमन। चेतना का नीचे अवतरण और चेतना का ऊर्ध्व अवतरण, दोनों विरोधी हैं। यही जीवन को टिकाए हुए है।

विज्ञान की भाषा में

विज्ञान की भाषा में इन्हीं दो केन्द्रों के वाचक दो ग्लैण्ड्स हैं। एक है पिनियल, पिच्यूटरी ग्लैण्ड और दूसरा है गोनाड्स। पिनियल और पिच्यूटरी—ये दोनों ज्ञान के विकास की ग्रन्थियां हैं। गोनाड्स—यह काम-विकास ग्रन्थि है। हमारी चेतना का विकास पिनियल और पिच्यूटरी के विकास पर निर्भर है। पिच्यूटरी और पिनियल का स्राव जब गोनाड्स को मिलता है तब काम की उत्तेजना बढ़ती है। जब वह स्राव बदलता है, हाइपोथेलेमस की क्रिया बदलती है, तब ज्ञान का विकास होने लग जाता है।

दोनों विरोधी बातें हमारे शरीर की संरचना में समाई हुई हैं। दोनों ग्रन्थियां अपना-अपना काम करती हैं। दोनों की क्रियाएं विरोधी हैं, एक दूसरे को उलटने वाली हैं। शरीर की रचना, प्रकृति की रचना, परमाणु की रचना या विद्युत् की रचना—सब में विरोधी तत्त्व काम कर रहे हैं। विद्युत् में धन और ऋण—दोनों काम करते हैं। दोनों साथ-साथ क्रिया करते हैं। केवल धन है, केवल ऋण है तो विद्युत् कार्यकारी नहीं होती। पाजीटिव और नेगेटिव—दोनों का होना अनिवार्य है। दोनों

होते हैं तब विद्युत होती है। दोनों दो प्रकार के आवेश हैं।

विरोधी युगल

हमारी समूची व्यवस्था का आधार है—विरोधी युगल। पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों आवश्यक हैं। केवल पक्ष भी निकम्मा है और केवल प्रतिपक्ष भी निकम्मा है। दोनों का योग सफल होता है।

अनेकान्त के आधार पर खोजा गया है कि लोक है तो अलोक भी है। बड़ी विचित्र व्यवस्था है। लोक या जगत् की कल्पना अन्यान्य दर्शनों में भी मिलती है, किन्तु अलोक की कल्पना अनेकान्त की सीमा से परे नहीं मिलती। अन्य दर्शनों में यह कल्पना नहीं है। आज के विज्ञान ने अवश्य ही इस कल्पना को एक रूप दिया है। प्राचीन दर्शनों में लोक की विभिन्न कल्पनाएं प्राप्त हैं। किन्तु अलोक की चर्चा किसी दर्शन में नहीं है।

आज का विज्ञान कहता है—यूनिवर्स है तो एन्टी यूनिवर्स भी है कण है तो प्रतिकण भी है। अणु है तो प्रति-अणु भी है। पदार्थ है तो प्रतिपदार्थ भी है। जगत् है तो प्रतिजगत् भी है। मेटर है तो एण्टी-मेटर भी है। यदि एण्टी-मेटर न हो तो मेटर का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। यदि प्रति-अणु न हो तो अणु का और प्रति जगत् न हो तो जगत् का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

जब जैन-दर्शन ने लोक और अलोक की व्यवस्था दी तब यह प्रश्न उठा कि लोक की चर्चा समझ में आ सकती है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। अलोक प्रत्यक्ष नहीं है, उसे कैसे स्वीकारा जाए? बहुत जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए अनेकान्त की दृष्टि का उपयोग करना पड़ा। अनेकान्त ने कहा—दो तत्त्व हैं—गति और स्थिति। न कोरी गति होती है और न कोरी स्थिति। दोनों साथ होती हैं। जहां गति और स्थिति—दोनों नियम काम करते हैं, वह है लोक। जहां गति और स्थिति का नियम लागू नहीं होता, वह है अलोक। जहां चेतन और अचेतन—दोनों होते हैं, वह है लोक। जहां चेतन और अचेतन का जोड़ नहीं होता, जहां केवल अचेतन होता है, केवल आकाश होता है, आकाश के साथ कोई पदार्थ नहीं होता, वह है अलोक।

पक्ष और प्रतिपक्ष

प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी पदार्थ से जुड़ा हुआ है। वैज्ञानिकों ने प्रतिकण को खोजने के लिए सूक्ष्म उपकरणों का प्रयोग किया। ऐसा सूक्ष्म यंत्र बनाया गया है जो एक सेकेंण्ड के पन्द्रहवें अरब हिस्से में होने वाले परिवर्तन को पकड़ ले।

तब उन्हें प्रतिकण का पता चला। आज यह सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हो चुका है कि प्रतिकण के बिना कण का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य है। अनेकान्त का मूल आधार है—विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृत। इस स्वीकृति से ही अनेकान्त का विकास होता है। अनेकान्त कहता है—सत्य को एक दृष्टि से मत देखो। सत्य को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो साथ-साथ उसे नास्तित्व की दृष्टि से भी देखो। स्वीकृति के साथ अस्वकृति दोनों साथ-साथ चलनी चाहिए। एक से काम नहीं चलता। हमारे जीवन का पूरा व्यवहार, समाज का सारा व्यवहार, इन विरोधी तत्त्वों की ईंटों से बना है। यदि ये विरोधी ईंटें न हों तो न कोई व्यवहार बनता और न कोई आचार बनता। विरोधी चाह, विरोधी आकांक्षा और विरोधी मांग सामने आती है। एक आदमी एक प्रकार से सोचता है तो दूसरा आदमी दूसरे प्रकार से सोचता है, उससे बिल्कुल उलटा सोचता है। एक आदमी को एक कार्य लाभप्रद प्रतीत होता है तो दूसरे को वही कार्य पतन की ओर ले जाने वाला लगता है। एक उसे उपयोगी मानता है तो दूसरा उसे सर्वथा अनुपयोगी मानता है। एक ही पदार्थ के विषय में नाना विरोधी धारणाएं होती हैं। यह स्वाभाविक है। इसमें अस्वाभाविक जैसा कुछ भी नहीं है।

विरोधी हित

एक कुम्हार था। उसके दो पुत्रियां थीं। एक का विवाह किसान के घर में हुआ और दूसरी का विवाह कुम्हार के घर में। दोनों प्रसन्न थीं। एक बार कुम्हार पुत्रियों से मिलने गया। दोनों एक ही गांव में थीं। वह किसान के घर ब्याही पुत्री के पास पहुंचा। कुशल-क्षेम पूछा—बेटी को उदास देखकर बोला—बेटी ! उदास क्यों है ? बेटी ने कहा—'पिताजी ? खेती का समय आ गया है। वर्षा हो नहीं रही है। आकाश में कहीं बादल नजर नहीं आते। बड़ी कठिनाई हो जाएगी, यदि वर्षा नहीं होगी तो। यही चिन्ता सता रही है। जल्दी से वर्षा हो जाए तो अच्छा है। आप प्रभु से वर्षा की प्रार्थना करें।'

कुम्हार वहां से चला और दूसरी बेटी के घर पहुंचा। कुशल-क्षेम पूछी। बेटी बोली—'पिताजी ! और तो सब ठीक है। वर्षा का मौसम है। आवा अभी पक रहा है। सारे बर्तन आवे में डाले हुए हैं। यदि वर्षा हो गई तो आवा गुड़-गोबर हो जाएगा। पिताजी ! आप प्रभु से प्रार्थना करें कि वर्षा न हो, वर्षा न हो अभी। जब तक हमारा आवा पक न जाए, तब तक वर्षा न हो।'

कुम्हार ने सोचा—वर्षा होने की प्रार्थना करूं या न होने की प्रार्थना करूं ?

दोनों लड़कियों के दो विरोधी हित हैं। एक का हित है वर्षा के होने में, जबकि दूसरी का हित है वर्षा के न होने में।

यह जगत्-विरोधी हितों का जगत् है। सब के स्वार्थ भिन्न-भिन्न हैं। मिल-मालिक और मजदूर का हित समान नहीं होता। एक स्वामी का हित दूसरा होता है और एक नौकर या कर्मचारी का हित दूसरा ही होता है। दोनों के हितों का संघर्ष है। यह संघर्ष मिटने वाला नहीं है। इसे मिटाने के प्रयत्न हो रहे हैं। परंतु मिटे कैसे? यह संघर्ष हमारी प्रकृति में निहित है। व्यवस्था से यह संघर्ष जुड़ा है। यह मिटे कैसे? इसीलिए समाजशास्त्रियों ने कहा—स्ट्रगल फार सरवाइवल—जीने के लिए संघर्ष अनिवार्य। संघर्ष विकास का सूचक है। स्फुल्लिग या चिंगारियां नहीं होंगी तो विकास नहीं होगा, प्रकाश नहीं होगा। प्रकाश के लिए चिंगारी का होना जरूरी है। कैसे रोका जाए संघर्ष को? बहुत बड़ी समस्या है विरोधी हितों और विरोधी स्वार्थों की। सारा जगत् विरोधी हितों के संघर्ष से भरा है। एक-दूसरे के हित में कोई सामंजस्य नहीं है। एक ब्रह्मचारी सोचता है—सभी ब्रह्मचारी बन जायें तो अच्छा है। कुछ सोचते हैं—यदि सब ब्रह्मचारी बन जाएंगे तो सृष्टि का क्रम कैसे चलेगा? दोनों का चिंतन बिल्कुल विरोधी है। कोई व्यक्ति दीक्षित होने जाता है तो लोग सोचते हैं—इस प्रकार यदि सब दीक्षित होने लगेंगे तो संसार कैसे चलेगा?

एक घटित घटना है। एक युवक दीक्षित होना चाहता था। उसके संन्यास-ग्रहण की बात को सुनकर सारा नगर विरोध में खड़ा हो गया। परिचित भी विरोध करने लगे और अपरिचित भी विरोध करने लगे। हर आदमी चाहता था कि युवक शादी करे और सृष्टि के नियम को चलाए। जब यह लगता है कि एक भी व्यक्ति इस सृष्टि के नियम को तोड़कर दूसरी दिशा में जा रहा है तो लगता है कि सृष्टि का क्रम भंग हो रहा है। विरोधी हितों की टक्कर होती है। संन्यास और गार्हस्थ्य का विरोध हमेशा से हो रहा हैं। सत्य का और असत्य का विरोध सदा से रहा है। सत्य बोलने वाला हमेशा चाहता है कि कोई झूठ न बोले। किन्तु झूठ बोलने वाला नहीं चाहता कि कोई सत्य बोले। चोर यह प्रयत्न करेगा कि सब चोर हों, साहूकार कोई न बने। चोर का हित इस बात में है कि चोर-चोर ही बना रहे।

सब नकटे हो जाएं

एक कहानी है। एक नकटा था। लोग उसका अपशकुन मानते थे। वह बहुत दुःखी हो गया। वह बुद्धिमान् था। उसने सोचा, ऐसा काम करूं कि सारा संसार नकटा हो जाए। फिर मंगल-अमंगल या शकुन-अपशकुन की चर्चा ही समाप्त हो

जाए। एक दिन वह बाजार में गया और ऊपर की ओर देखने लगा। लोगों ने पूछा—ऊपर क्या देख रहे हो! उसने कहा—देखो, भगवान् के दर्शन हो रहे हैं। यह बात सारे नगर में फैल गई। लोग एकत्रित होने लगे। लोगों ने ऊपर देखकर पूछा—कहां है भगवान्? हमें तो कुछ भी दिखाई नहीं देता। उसने कहा—'मुझे तो साक्षात् दर्शन हो रहा है। तुम्हें कैसे दर्शन हो? नाक सामने आ रही है। जब तक नाक की आड़ रहेगी, दर्शन नहीं होंगे। मेरी नाक नहीं है, कोई आड़ नहीं है, इसलिए साक्षात् दर्शन हो रहे हैं।

लोग असमंजस में पड़ गए। एक ने कहा—नाक आड़े कैसे आ रही है? दूसरे ने कहा—तुम नहीं जानते। यह जो कह रहा वह सच है। भगवान् के दर्शन करने हैं तो नाक कटा दो। दो ही क्षण में साक्षात् हो जाएगा।

दुनियां में पागल लोगों की कमी नहीं है। समझदार हैं तो पागल भी होने जरूरी हैं।

एक आदमी नाक काटने गया एक नाई के पास। नाई बोला—क्या पागल हो गए हो? नाक आंखों के आड़े कहां आती है? वह बोला—तुम नहीं जानते इस तथ्य को। पैसा लो और नाक काट डालो। मुझे भगवान् के दर्शन करने ही हैं।

नाई ने नाक काट दी।

वह दौड़ा-दौड़ा उस नकटे के पास आकर बोला—कहां होते हैं दर्शन? उसने कहा—ऊपर देखो। उसने ऊपर देखा। कहां थे भगवान्। वह बोला—दर्शन नहीं हो रहे हैं। नकटे ने कहा—'चुप रहो बोलो मत, कहो कि दर्शन हो रहे हैं। यदि ऐसा नहीं कहोगे तो तुम भी अमंगल माने जाओगे। तुम्हारा कोई सम्मान नहीं होगा। दुत्कारे जाओगे। तुम यदि कहोगे कि नाक के कटवाने से भगवान् के दर्शन हो रहे हैं, तो हजारों आदमी अपनी नाक कटाएंगे और हमारी पंक्ति में आ जाएंगे।' वह रहस्य को समझ गया। जोर से बोल उठा—ओह! क्या सुन्दर दृश्य है। साक्षात् भगवान् दीख रहे हैं। वह नाचने लगा। अब एक से दो हो गए। देखते-देखते हजारों लोगों ने अपनी नाक कटा ली।

सह-अस्तित्व की खोज

यह संसार ही ऐसा है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह जैसा बोलता है, सब वैसे ही बोलें। वह जैसे चलता है, सब वैसे ही चलें। वह जैसे कपड़े पहनता है सब वैसे ही कपड़े पहनें। वह जैसा आचरण या व्यवहार करता है, सब वैसा ही आचरण या व्यवहार करें। यह चाह सबकी होती है। पर ऐसा होता नहीं। विरोधी

रुचियां हैं। विरोधी प्रकृतियां और विरोधी विचार हैं। विरोधी स्वभाव और विरोधी आदतें हैं। इन्हीं का परिणाम है—टक्कर, संघर्ष और लड़ाइयां। पहले ये बीज रूप में पैदा होते हैं। बढ़ते-बढ़ते महायुद्ध का रूप धारण कर लेते हैं। एक दो व्यक्तियों का झगड़ा विश्वयुद्ध बन जाता है। महायुद्ध कोई बड़ी बात के लिए नहीं होता। उसका मूल छोटा होता है। कारण बहुत ही सूक्ष्म होता है। महायुद्ध का कोई बड़ा कारण नहीं मिलेगा। छोटे-छोटे कारणों के लिए ही महायुद्ध लड़े गए हैं। थोड़ी-सी भूमि के लिए महायुद्ध हुए हैं। पत्नी को छुड़ाने के लिए महायुद्ध हुए हैं। हल्के से तिरस्कार के लिए महायुद्ध हुए हैं। क्या यह संसार लड़ने के लिए ही है? क्या मनुष्य सदा लड़ता ही रहेगा? क्या वह अपनी रूचि और विचारों को दूसरों पर थोपता ही रहेगा? क्या इसके अतिरिक्त कोई तीसरा रास्ता भी है? क्या कोई ऐसा मार्ग भी है कि हम विरोधों के बीच में रहते हुए भी अविरोध का जीवन जी सकें? अनेक भेदों के बीच रहते हुए भी अभेद का जीवन जी सकें? यह प्रश्न उभरता है। अनेकान्त ने इस प्रश्न को समाहित करने के लिए मार्ग की खोज की। वह मार्ग था—सह-अस्तित्व।

सह-अस्तित्व: प्रकृति का नियम

आज के राजनीतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व पर बहुत बल दिया जाता है। को-एग्जिस्टेन्स का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन की विभिन्न प्रणालियों में सह-अस्तित्व जरूरी है। एक समाजवादी विचारधारा है। दूसरी पूंजीवादी विचारधारा है। एक लोकतंत्र की प्रणाली है तो दूसरी एकतंत्र की प्रणाली है। दोनों प्रकार की विचारधाराएं, दोनों प्रकार की प्रणालियां, आज संसार में प्रचलित हैं। दोनों विरोधी हैं। ऐसी स्थिति में होना तो यह चाहिए कि या तो समाजवाद रहे या पूंजीवाद, या तो लोकतंत्र रहे या एकतंत्र। दोनों नहीं रह सकते, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। या तुम रहोगे या मैं रहूंगा। दोनों साथ नहीं रह सकते।

यदि इसी भाषा में सोचा जाए कि या तो समाजवाद रहेगा या पूंजीवाद रहेगा, या तो लोकतंत्र रहेगा या एकतंत्र रहेगा, तब युद्ध के सिवाय दुनियां में कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा। जब यह अनुभव किया गया कि युद्ध ही एकमात्र विकल्प है, युद्ध सबसे बड़ा शत्रु है और यह मनुष्य जाति को अपार संकट में डालने वाला है, तब उसको टालने की बात उठी। यदि विरोधी को समाप्त करने की नीति पर चलें तब युद्ध को टालने की बात आती ही नहीं, तो फिर एक विकल्प निकालना पड़ा। राजनीति के मंच पर यह घोषणा की गई कि सबका सह-अस्तित्व होना चाहिए। दोनों रह

सकते हैं, दोनों जी सकते हैं। दोनों को जीने का अधिकार प्राप्त है। इस सह-अस्तित्व की नीति के आधार पर राष्ट्रसंघ जैसे संगठनों में, जहां समाजवादी संगठन का प्रतिनिधित्व होता है तो वहां पूंजीवादी संगठन का भी प्रतिनिधित्व होता है। जहां लोकतंत्र की प्रणाली में जीने का प्रतिनिधित्व है, वहां एकतंत्र का भी प्रतिनिधित्व है। सह-अस्तित्व की घोषणा राजनीति के क्षेत्र में नई है, किन्तु प्राकृतक नियमों के आधार पर यह बहुत प्राचीन है। यह कोई नयी बात नहीं है। बनना, बिगड़ना—बनना, बिगड़ना—यह पुराना क्रम है।

हमारे शरीर में खरबों कोशिकाएं हैं। प्रति सेकेण्ड पांच करोड़ कोशिकाएं नष्ट होती हैं और पांच करोड़ कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। यह सह-अस्तित्व बना रहता है। जन्मना और मरना, पैदा होना और नष्ट होना। कोशिकाएं नष्ट न हों तो शरीर मुर्दा बन जाता है। कोशिकाएं पैदा न हों तो शरीर टूट जाता है। दोनों चालू रहते हैं तब शरीर टिकता है।

जीना और मरना दोनों विरोधी हैं, किन्तु दोनों साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ चलते हैं। जिस क्षण में आदमी जीता है, उसी क्षण में आदमी मरता है और जिस क्षण मे आदमी मरता है, उसी क्षण में आदमी जीता है। जीवन और मरण की ये विरोधी घटनाएं साथ-साथ चलती हैं। कोई उसमें कालक्रम नहीं है कि अमुक क्षण में आदमी जीता है और अमुक क्षण में आदमी मरता है। जीना और मरना साथ-साथ चलता है। जो जीने का क्षण है, वही मरने का क्षण है और जो मरने का क्षण है वही जीने का क्षण है। दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

सह-अस्तित्व स्वयंभू नियम है

विरोधी होना स्वाभिवक है। विरोधी युगलों का अस्तित्व प्राकृतिक है। इनका सह-अस्तित्व भी स्वाभाविक है, नैसर्गिक है। किसी ने यह नियम बनाया नहीं, यह स्वयंभू है। कोई भी महापुरुष या मनस्वी , ऋषि या तीर्थंकर नियम नहीं बनाता। वह नियमों की व्याख्या करता है। वह नियमों में छिपे रहस्यों का उद्‌घाटन करता है। प्रकृति के नियमों का सर्जन करना किसी के हाथ में नहीं है। कोई भी व्यक्ति आचार-व्यवहार के नियम बना सकता है, खान-पान के नियम बना सकता है, पर कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली या मेधावी क्यों न हो, प्रकृति के नियमों का सर्जक नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम नैसर्गिक होते हैं, स्वाभाविक होते हैं।

सह-अस्तित्व का नियम भी स्वाभाविक है। द्वन्द्वात्मक जीवन का होना, विरोधी

युगलों का एक साथ होना, यह भी प्राकृतिक नियम है और विरोधी धर्मों का एक साथ अवस्थान होना, सह-अस्तित्व होना—यह भी प्राकृतिक नियम है। इस नियम की व्याख्या सबसे पहले अनेकांत ने की। भारतीय दर्शनों तथा विश्व के सभी दर्शनों में सह-अस्तित्व की व्याख्या का ऐतिहासिक श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह अनेकान्त को ही दिया जा सकता है। अनेकान्त का आधार भी यही बना कि जब पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें विरोधी तत्वों का सहावस्थान होता है, तब हम एक ही दृष्टि से पदार्थ की व्याख्या कैसे कर सकता हैं? हम एक ही दृष्टि से जीवन या सत्य की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? यह सहज उपलब्ध होता है कि पदार्थ या सत्य की प्रकृति के अनुरूप हम अनेक दृष्टि से उसकी व्याख्या करें, सत्य को अनेक दृष्टियों से देखें। जब पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है तब हम उसे कैसे बदल सकते हैं? स्वभाव में तर्क नहीं चलता। तर्क या प्रयोग वहां होता है जहां मानवकृत व्यवस्था होती है। स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई उपयोग नहीं हो सकता। सारे तर्क समाप्त हो जाते हैं, टूट जाते हैं, आगे नहीं चल पाते।

जब व्यक्ति सह-अस्तित्व को समझ लेता है, जब जीवन और सत्य को व्याख्यायित करना सरल हो जाता है, तब जीवन और सत्य को एक भाषा दी जा सकती है। विरोधी को मिटाने की भावना समाप्त हो जाती है।

वस्तु एकः रूप अनेक

अनेकान्त और अहिंसा दो नहीं हैं। अनेकान्त और मैत्री दो नहीं हैं। यदि अनेकान्त नहीं है तो अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। यदि अनेकान्त नहीं है तो मैत्री का विकास नहीं हो सकता। अनेकान्त के बिना राग-द्वेष का उपशमन नहीं हो सकता। मनुष्य जब राग-भावना से प्रेरित होकर किसी वस्तु को देखता है, तब वह वस्तु उसे दूसरे रूप में दीखती है और जब वह उसी वस्तु को द्वेष-भावना से प्रेरित होकर देखता है तब वह दूसरे रूप में दीखती है। वस्तु एक है, पर राग या द्वेष के कारण उसका रूप बदल जाता है।

एक प्रसंग है।

राम ने हनुमान से पूछा—अशोक वाटिका के फूल कैसे थे? हनुमान ने कहा—लाल थे। सीता ने कहा—नहीं, सारे फूल सफेद थे। वहां लाल रंग का एक भी फूल नहीं था। स्थान एक, वाटिका एक, समय एक। पर दोनों के कथन दो प्रकार के। इनको हम असत्य कैसे कहें? दोनों का उत्तर यथार्थ था। राम ने कहा—हनुमान उस समय क्रोध के आवेश में थे। आंखों से खून बरस रहा था। उस समय अशोक वाटिका का चप्पा-चप्पा उन्हें लाल दिखाई दिया। कोई आश्चर्य नहीं है। सीता समरस

में लीन थी , शांत थी। उसे सब कुछ सफेद दिखाई दिया। श्वेत वर्ण शान्ति का प्रतीक है।

अनेकान्त का हार्द

जीवन में अनेक विरोधी प्रश्न आते हैं। उनका समाधान अनेकान्त में ही खोजा जा सकता है। यदि हमारी दृष्टि अनेकान्त की है, विरोधी बातों को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमें समाधान मिल जाता है। यदि हम सत्य को सत्य की दृष्टि से नहीं देखते, यथार्थ को यथार्थ की दृष्टि से नहीं देखते, दो विरोधी सत्यों को दो भिन्न दृष्टिकोणों से नहीं देखते, वहां संघर्ष होना अनिवार्य है। वहां कोई समाधान नहीं मिल सकता। एक ही कोण सारे सत्यों को अनावृत्त नहीं करता। संघर्ष को टालने का सबसे महत्त्वपूर्ण और अचूक उपाय है कि यह जान लिया जाए कि विश्वव्यवस्था के मूल में विरोधी युगल बराबर काम करते हैं। साथ-साथ यह नियम भी जान लेना जरूरी है कि उन विरोधी युगलों का सहावस्थान होता है, सह- अस्तित्व होता है। सर्दी और गर्मी का सह-अस्तित्व है। ऋतु-चक्र चलता है। सर्दी के बाद गर्मी और गर्मी के बाद सर्दी आती है। यह एक भिन्न तथ्य है। किन्तु सर्दी और गर्मी—दोनों साथ-साथ चलती हैं। हम जिसको सर्दी मानते हैं, वह गर्मी भी है और जिसे गर्मी मानते हैं वह सर्दी भी है। प्रकाश के बाद अंधकार और अंधकार के बाद प्रकाश का होना एक अलग बात है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होना, एक अलग प्रश्न है। अनेकान्त की दृष्टि से रात और दिन दोनों साथ-साथ चलते हैं। प्रकाश और अंधकार—दोनों साथ-साथ चलते हैं। इस हाल में सूक्ष्म लिपि नहीं पढ़ी जा सकती। पढ़ने वाला कहेगा—यहां अन्धेरा है। मैं कहता हूं—कहां है अन्धेरा? मैं आपको देख रहा हूं, आप मुझे देख रहे हैं। यहां स्थित सारे पदार्थ दीख रहे हैं। प्रकाश के बिना वे नहीं देख पाते। यहां प्रकाश है। किन्तु सूक्ष्म लिपि को पढ़ने के लिए जितना प्रकाश चाहिए, उतना यहां नहीं है। अत: कह दिया जाता है—यहां अंधेरा है। प्रकाश और अंधकार—दोनों का सहावस्थान है, दोनों साथ-साथत चलते हैं। दोनों सापेक्ष हैं। दिन और रात—दोनों अलग नहीं होते, दोनों का सह-अस्तित्व है, दोनों साथ-साथ चलते हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

यदि हम इस सहावस्थान के नियम को समझ लेते हैं तो फिर संघर्ष के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। तत्त्वार्थ सूत्र का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" —परस्पर में एक-दूसरे का सहारा—यह प्रकृति का नियम है, यह जीव-सृष्टि

का अटल नियम है। एक को दूसरे का सहारा मिलता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए पनपा कि सह-अस्तित्व के नियम को भुला दिया गया। विरोधी युगल साथ रह सकते हैं—यह नियम जब आंखों से ओझल हो जाता है, तब विरोध पनपता है। व्यक्ति एक ही कोण से देख पाता है।

समाजशास्त्रियों ने यह घोषणा की कि जीवन के लिए संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि उन्होंने विरोधी युगलों के सहावस्थान तथा प्रतिपक्ष के सिद्धान्त को नहीं समझा। जिन्होंने सह-अस्तित्व और विरोधी युगलों के सिद्धान्त को समझा, उन्हें अनेकान्त की दृष्टि का हार्द प्राप्त हुआ और उन्होंने शाश्वत् घोषणा की कि प्रत्येक प्राणी दूसरे के लिए आलंबन बनता है, सहारा बनता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए आलंबन बनता है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं है, वह आरोपित है।

प्रवचन २

संकेतिका

१. समन्वय—विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व इसलिए कि उनमें समन्वय है। समन्वय इसलिए कि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है।

२. सर्वथा सदृश या सर्वथा विसदृश कुछ भी नहीं है।

सर्वथा अस्ति या सर्वथा नास्ति कुछ भी नहीं है।

३. सादृश्य और असादृश्य समन्वित है।

अस्तित्व और नास्तित्व समन्वित है।

४. व्यक्त पर्याय को देखते हैं, अव्यक्त पर्याय को नहीं देखते, इसलिए भिन्न-भिन्न धारणाएं बनती हैं।

५. व्यक्त, अव्यक्त—दोनों को जान लें तो धारणाएं भिन्न होंगी।

६. दो नय—निश्चय और व्यवहार।

सूक्ष्म सत्यों को जानने के लिए निश्चय नय।

स्थूल सत्यों को जानने के लिए व्यवहार नय।

७. आत्मा और पुद्गल में केवल एक धर्म का अन्तर है।

८. श्वास-दर्शन की प्रक्रिया से भीतर का नाद सुनाई देता है।

समन्वय

विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व

वस्तु का स्वभाव है—विरोधी धर्म-युगलों का होना। वस्तु का स्वभाव है उन विरोधी धर्म-युगलों का सह-अस्तित्व। प्रश्न होता है, वह कैसे सम्भव माना जाए? दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु में, एक साथ रहें, यह कैसे हो सकता है? यह जटिल समस्या है। किंतु वस्तु-स्वभाव में जटिलता नहीं होती। इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो सर्वथा विरोधी हो, सर्वथा विलक्षण या भिन्न हो। अनेकान्त की यह महत्त्वपूर्ण खोज है कि कोई भी तत्त्व सर्वथा सदृश नहीं होता और कोई भी तत्त्व सर्वथा विसदृश नहीं होता। वह सर्वथा समान भी नहीं होता और सर्वथा असमान भी नहीं होता। हम जिसको सदृश या समान मानते हैं, वह विसदृश और असमान भी है। हम जिसको भिन्न मानते हैं, वह अभिन्न भी है। केवल स्थूल या व्यक्त पर्यायों के आधार पर हम सदृश या विसदृश, समान या असमान, भिन्न या अभिन्न कह देते हैं। किन्तु जब हम सूक्ष्म जगत् में जाते हैं, सूक्ष्म नियमों का अध्ययन करते हैं तब ज्ञात होता है कि हमारी धारणा मिथ्या है। वहां सारे नियम बदल जाते हैं। हमारी धारणाएं स्थूल व्यक्त पर्यायों के आधार पर बनी होती हैं। अव्यक्त का संसार जब हमारे सामने प्रगट होता है, अज्ञात का जगत् जब हमारे सामने ज्ञात होकर उभरता है, तब सूक्ष्म नियम हमारी समझ में आते हैं और सारी स्थूल धारणाएं बदल जाती हैं।

तीनों एक

प्रकाश, शब्द और रंग—ये तीन हैं। हम प्रकाश को अलग मानते हैं, शब्द को अलग मानते हैं और रंग को अलग मानते हैं। किन्तु कोई वैज्ञानिक इनको अलग नहीं मानता। शब्द अर्थात् ध्वनि और रंग अर्थात् वर्ण। ये दोनों प्रकाश के ही प्रकम्पन हैं। भिन्न-भिन्न आवृत्तियों (फ्रीक्वेन्सी) पर ये प्रकम्पन बनते हैं और प्रकाश, ध्वनि या वर्ण के रूप में गृहीत होते हैं। वर्ण (रंग) प्रकाश का उनचासवां प्रकम्पन है। ध्वनि भी प्रकाश की ही अमुक फ्रीक्वेन्सी है, प्रकम्पन है। ध्वनि और रंग दो नहीं हैं। रंग को सुना जा सकता है, ध्वनि को देखा जा सकता है। रंग को सुनने

का माध्यम है "ओरोट्राल" मशीन। आवृत्तियों का अन्तर करने पर रंग सुनाई देने लगता है और ध्वनि दिखाई देने लगती है। भिन्न-भिन्न लगने वाली वस्तुएं एक बन जाती हैं। हमारी इन्द्रियां भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण करती हैं। आंख देखती है, कान सुनता है, नाक सूंघती है, जीभ चखती है और त्वचा छूती है। यह बहुत स्थूल विभाजन है। यदि सूक्ष्म में जाएं तो आंख का काम केवल देखना ही नहीं है, वह सुन भी सकती है, चख भी सकती है और सूंघ भी सकती है। जीभ का काम केवल चखना ही नहीं है, वह सुन भी सकती है।

कश्यप कौमारभृत्य

आयुर्वेद के महान् आचार्य कश्यप कौमारभृत्य चिकित्सा के क्षेत्र में प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उन्होंने एक बात लिखी है—जैसे हमारे हाथ दो होते हैं वैसे ही हमारी जीभ भी दो होती हैं। वह दो भागों में बंटी होती है। जीभ के एक भाग का काम है चखना और दूसरे भाग का काम है सुनना। उनका कहना है—कान सुनता नहीं है। वह तो केवल ध्वनि को ग्रहण करता है। वह तो केवल रिसेप्टिव है। ग्रहण का माध्यम मात्र है। वह ध्वनि को ग्रहण करता है और जीभ तक पहुंचा देता है। वास्तव में जीभ ही सुनती है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक महत्त्वपूर्ण तर्क दिया—एक आदमी बहरा है। यह अनिवार्य नहीं है कि वह गूंगा भी हो। किन्तु जो गूंगा है, उसका बहरा होना अनिवार्य है। जो जीभ से बोल नहीं सकता, वह गूंगा होता है और जो कानों से सुन नहीं सकता, वह बहरा होता है। जो बहरा है वह बोल भी सकता है, किन्तु जो गूंगा है, वह बोल नहीं सकता तो सुन भी नहीं सकता। जिसकी जीभ विकृत है, जो बोल नहीं सकता, गूंगा है, वह निश्चित ही बहरा होगा। यह अटल नियम है। उन्होंने बताया—गूंगा व्यक्ति इसीलिए बहरा होता है कि उसकी जीभ विकृत है, वह सुन नहीं पाती। कान ठीक हैं, वे ध्वनि को ग्रहण कर जीभ तक पहुंचा देते हैं, किन्तु जीभ पकड़ नहीं पाती, इसलिए आदमी सुन नहीं पाता। इसलिए जो गूंगा है, उसका बहरा होना जरूरी है और जो गूंगा नहीं है, जीभ में सुनने की शक्ति है, पर जिसका कान विकृत हो जाता है, वह ध्वनि को जीभ तक पहुंचा नहीं पाता, इसलिए वह सुन नहीं सकता। आज के शरीर-शास्त्रियों ने भी यह माना है कि सुनने की क्षमता जितनी दांतों की हड्डियों में है, उतनी कान में नहीं है। कान की अपेक्षा दांत अच्छा सुन सकते हैं। आज तो यह भी प्रयत्न हो रहा है कि विश्व में कोई बहरा न रहे। दांत की हड्डियों पर एक यंत्र फिट कर दिया जाएगा और

बहरा आदमी सुनने लग जाएगा। जीभ सुन सकती है। दांत सुन सकते हैं यह बहुत निकट की बात है।

संभिन्नस्रोतोलब्धि

इससे भी आगे की बात जैनाचार्यों ने प्रतिपादित की। उन्होंने एक यौगिक विभूति का उल्लेख किया है। उसकी संज्ञा है—'संभिन्नस्रोतोलब्धि'। यह एक ऐसी विभूति है, जिससे सारा शरीर 'करण' बन जाता है, इन्द्रिय बन जाता है। फिर यह स्थूल विभाग की बात व्यर्थ हो जाती है कि आंख ही देख सकती है, कान ही सुन सकता है आदि-आदि। इस विभूति के प्रगट होने पर शरीर का प्रत्येक अवयव पांचों इन्द्रियों का काम करने लग जाता है। समूचा शरीर देख सकता है, समूचा शरीर सुन सकता है। कुछ लड़कियां हैं जो अंगुलियों से पढ़ सकती हैं। आंख का काम अंगुलियों से करती हैं। यह तथ्य अनेक वैज्ञानिकों को आश्चर्य में डाले हुए है। प्रत्यक्ष को नकार नहीं सकते। वे यह नहीं कह सकते कि अंगुलियों से नहीं पढ़ा जा सकता। किन्तु क्यों और कैसे पढ़ा जाता है—इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। यह विषय अभी विज्ञान से परे है। वैज्ञानिक इसे समझने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु यह तथ्य हजारों वर्ष पूर्व स्वीकृत हो चुका है कि समूचा शरीर हर इन्द्रिय का काम कर सकता है। एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम लिया जा सकता है या समूचे शरीर से किसी भी इन्द्रिय का काम लिया जा सकता है।

व्यक्त : अव्यक्त

व्यक्त पर्याय का भेद या ऊपर से दीखने वाला भेद तब मिट जाता है जब व्यक्ति गहराई में जाता है, सूक्ष्म नियम की खोज करता है। जब पैठ गहरी होती है तब सारे नियम टूट जाते है। व्यक्त जगत् के नियम सर्वथा भिन्न होते हैं और अव्यक्त जगत् के नियम सर्वथा भिन्न होते हैं। कठिनाई यह होती है कि हम अव्यक्त की व्याख्या व्यक्त के द्वारा करना चाहते हैं और व्यक्त की व्याख्या केवल व्यक्त के द्वारा ही करना चाहते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं या अस्वीकार कर देते हैं कि यह संसार बहुत छोटा संसार है, केवल ऊर्मियों का संसार है, केवल तंरगों का संसार है। किन्तु इन तंरगों के नीचे सत्य का कितना विराट् और अनन्त सागर भरा पड़ा है, इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम केवल व्यक्त पर्याय के आधार पर सम्पूर्ण सत्य का दावा कर लेते हैं। इससे हम गहरे असत्य में, गहरे अंधकार में चले जाते हैं। अनेकान्त ने सावधान करते हुए कहा—ऐसा मत करो। केवल व्यक्त के आधार पर पूर्ण सत्य की कल्पना का अंहकार मत करो।

मनुष्य व्यक्त के धरातल पर जीता है, इसलिए जो पर्याय वर्तमान की सीमा में व्यक्त होता है, उस पर्याय के आधार पर वह अपनी धारणा बना लेता है। ममकार जुड़ता है और वह कहता है—यह मेरा है। क्यों माना कि यह मेरा है? क्या यह सत्य है? कैसे कहा जा सकता है कि यह मेरा है। जिसे मैं मेरा कहता हूं, वह मेरा शत्रु है। जिसे मेरा नहीं मानता, पराया मानता हूं वह मेरा मित्र है। जिसे मेरा मानता हूं, उसमें शत्रु छिपा बैठा है और जिसे पराया मानता हूं, उसमें मित्र छिपा बैठा है। दोनों को नहीं देख पा रहा हूं।

दृष्टि-विपर्यास

आदमी ने दो खेमे बना लिए हैं—एक है अपनों का खेमा, मित्रों का खेमा और दूसरा है परायों का खेमा, शत्रुओं का खेमा। आदमी अनादिकाल से धोखा खाता चला जा रहा है। जितना धोखा 'अपनों' के द्वारा होता है उतना धोखा 'परायों' के द्वारा नहीं होता। फिर भी आदमी अपना मानता चला जा रहा है और इसलिए मानता चला जा रहा है कि वह व्यक्त पर्याय में ही विश्वास करता है, स्थूल पर्याय में ही विश्वास करता है। वर्तमान क्षण में हित करने वाले को मित्र और अहित करने वाले को शत्रु मान लेता है। जबकि होता यह है कि मित्रता की बात करने वाले भी यथार्थ में शत्रु का काम कर लेते हैं। माता-पिता अपने लड़के से कहते हैं—शराब मत पीओ, व्यवसनों से दूर रहो, बुरे आचरणों में मत फंसो, बुरों की संगत मत करो। लड़का मानता है—ये मेरे शत्रु हैं। परन्तु जो कहता है—चलो, नाइट-क्लब में चलें, शराब पीएं, मौज करें, उसे वह मित्र लगने लगता है। यह दृष्टि का विपर्यास है।

दृष्टि परिवर्तन का हेतु

अनेकान्त जीवन की एक प्रशस्त पद्धति है। उस पद्धति का प्रारम्भ होता है दृष्टि-परिवर्तन द्वारा। दृष्टि जब सम्यक् नहीं होती तब हमारी धारणाएं सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् द्वारा छनकर नहीं आतीं। जब तक हमारा ज्ञान व्यक्त और अव्यक्त—दोनों पर्यायों के समन्वय से नहीं होता तब तक हम सही निर्णय नहीं ले पाते और आपदाओं से बचना तब सम्भव नहीं होता। वस्तु का स्वभाव बहुत बड़ा सत्य है। इसकी हम अवहेलना न करें। उसे समझने का प्रयत्न करें। कोई भी व्यक्ति वस्तु-सत्यों को उलटकर, उन नियमों के विपरीत चलकर सुखी नहीं बन सकता। सुखी और शांत जीवन वही जी सकता है जो वस्तु-सत्यों को मानकर चलता है, न कि अपनी धारणाओं के अनुसार सत्य को टालने का प्रयत्न करता है। प्रायः होता यह है कि मनुष्य वैसा बनना नहीं चाहता किन्तु आदर्श को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न

करता है, उसे नीचे उतार लेना चाहता है। कोई भी व्यक्ति भगवान् की ऊंचाई तक पहुंचना नहीं चाहता, किन्तु भगवान् को अपने समान नीचे धरातल पर ले आना चाहता है। यही विकृति है। यही मिथ्या-दृष्टिकोण है। यदि यह दृष्टिकोण बदल जाए और सत्य को अखंड और शाश्वत नियम मानकर चलें फिर दुःखी होने का कोई रास्ता ही नहीं बचता।

सत्य का महान् नियम है कि जगत् में कुछ भी सर्वथा समान नहीं है और सर्वथा असमान भी नहीं है। सर्वथा कोई विरोधी नहीं है और सर्वथा कोई अविरोधी भी नहीं है। हम इस नियम के आधार पर खोज कर सकते हैं। हमें जीवन का सुन्दर राजमार्ग प्राप्त होता है। साधना का भी बहुत सुन्दर मार्ग प्राप्त होता है फिर हम चोर में छुपे हुए साहूकार को और साहूकार में छुपे हुए चोर को देखें। कौन है चोर और कौन है साहूकार?

एक प्रसंग है। जीसस ने भीड़ से कहा—वही व्यक्ति इस स्त्री को पत्थर मार सकता है जो शुद्ध है, विकारग्रस्त कभी नहीं हुआ हो। किसी का हाथ नहीं उठा पत्थर मारने के लिए। जीसस के वाक्य ने सबको झंकृत कर दिया अपने भीतर छुपे हुए चोर को देखने के लिए, अपने भीतर छुपे हुए शैतान को देखने के लिए। किसी का हाथ नहीं उठा पत्थर मारने के लिए। सब अवाक् रह गए।

अनेकान्त की सार्थकता

यदि हम अपने भीतर छुपे हुए चोर को और अपने भीतर छुपे हुए साहूकार को पहचान सकें और उस पहचान के बाद भीतर के चोर को सुलाकर साहूकार को जगा सकें तो अनेकान्त की सार्थकता हमारे व्यवहार में हो सकती है। इसीलिए ध्यान और साधना चल रही है। हम इसमें संलग्न हैं। ध्यान के बिना अनेकान्त का मार्ग स्पष्ट और प्रशस्त नहीं होता। ध्यान इसीलिए कर रहे हैं कि जो पर्याय अव्यक्त पड़े हैं, जो साहूकार सोया पड़ा है, उस साहूकार को जगा सकें, उन पर्यायों को व्यक्त कर सकें। जो चोर जागा हुआ है, उसे सुला सकें, मुख्य को गौण कर सकें और गौण को मुख्य कर सकें। जो कुर्सी पर बैठा है उसे नीचे बिठा सकें और जो नीचे बैठा है उसे कुर्सी पर बिठा सकें।

एक विज्ञापन निकला—हमारी कंपनी में कुछ नियुक्तियां करनी हैं, जो सर्विस करना चाहें वे प्रत्यक्ष आकर मिलें। अनेक उम्मीदवार आए। मैनेजर ने उम्मीदवारों से पूछा—कौन क्या होना चाहता है? किसी ने कहा—मैं चपरासी होना चाहता हूं। मैं क्लर्क होना चाहता हूं। मैं निरीक्षक या इंजीनियर होना चाहता हूं। सबको

अपने-अपने स्थान पर रख लिया। एक उम्मीदवार बचा। उससे पूछा—तुम क्या होना चाहते हो? उसने कहा—मैं मैनेजर होना चाहता हूं। आपकी इस कुर्सी पर बैठना चाहता हूं। कितनी बड़ी महत्त्वाकांक्षा। नियुक्ति हो गई। वह मैनेजर बन गया।

सफलता का सूत्र : संभावनाओं का स्वीकार

अनन्त पर्याएं हैं। हमारे भीतर अनन्त संभावनाएं छिपी हुई हैं। कोयला हीरा बन सकता है। आज तो यह निश्चित मान्यता हो गई है। कि कोयला ही हीरा बनता है। कोयले में हीरा बनने की संभावना छिपी हुई है। हर पदार्थ में सब कुछ बनने की संभावना होती है। यह अनेकान्त की स्वीकृति है। असंभावना तो बहुत ही थोड़ी है। चेतन, अचेतन नहीं बन सकता और अचेतन, चेतन नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त सब कुछ बना जा सकता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है जो एक-दूसरे में न बदल सके या न बन सके। सब कुछ बना जा सकता है। सारी संभवनाएं हैं। मिट्टी के एक कण में सारे वर्ण, सारे गंध और सारे स्पर्श होते हैं। मिट्टी का एक कण चीनी से अनन्तगुना मीठा होता है।

हम संभावनाओं को मानकर ही ध्यान की साधना में संलग्न हुए हैं। हमारे भीतर अनन्त चेतना है, अनन्त ज्ञान है। कैवल्य है हमारे भीतर। हमारे भीतर अनन्त शक्ति है, अनन्त आनन्द है। इन सबके अभिव्यक्त होने की संभावना को मानकर हम यह विशेष उपक्रम करते हैं। यदि यह संभावना न हो तो कौन इतना समय लगाए? कौन इतने कष्ट सहे और कौन इन्द्रियवान होते हुए भी अनिन्द्रियवान् होकर बैठा रहे? जगत् से अलग-थलग होकर, अपने आप में सिमटकर पांच-पांच छह-छह घंटे तक ध्यान-कायोत्सर्ग करने का उपक्रम इसीलिए हो रहा है कि उन संभावनाओं को हम जानते हैं। वे ज्ञात हैं। यह भी ज्ञात है कि उपयुक्त उपक्रम से वे संभावनाएं अभिव्यक्त होती हैं।

रोग एक पर्याय है। वह प्रगट होता है। आदमी रोगी बन जाता है। स्वस्थ या नीरोग होना भी एक पर्याय है। वह हमारे भीतर है। उसकी संभावना है। उसके प्रगट होते ही रोग दब जाता है। हमारे में स्वास्थ्य की अनन्त संभावनाएं हैं। उनके प्रगट होते ही रोग दब जाता है।

आदमी इसीलिए निराश होता है कि वह अनेकान्त के नियम को नहीं जानता। वह इस बात को भूल जाता है कि कोई भी पर्याय शाश्वत नहीं होता। हर पर्याय बदलता रहता है। एक रोग का पर्याय प्रगट हुआ, हमारा प्रयत्न चले तो नीरोगता

का पर्याय प्रगट हो सकता है। आज दुःख का पर्याय अभिव्यक्त हुआ है तो कल सुख का पर्याय अभिव्यक्त हो सकता है। जिस व्यक्ति में इस संभावना को मानने की क्षमता होती है वह कभी दुःखी नहीं होता, वह कभी रोगी नहीं होता। वह कभी खाट पर पड़े-पड़े जीवन नहीं बिता सकता। वह अपनी सोयी शक्ति को जगा लेता है।

संस्कृत साहित्य में एक कथा आती है। एक विद्वान् राजा के पास आकर बोला— 'राजन्! अभिवादन स्वीकार करें। मैं आपके आतिथ्य में आया हूं।' राजा ने कहा—'किसने निमंत्रण दिया, किसने बुलाया, ऐसे फटेहाल व्यक्ति को?' उसने कहा—'महाराज। मैं आपका भाई हूं। मुझे निमंत्रण की क्या आवश्यकता है?' राजा सहम गया। पूछा—'मेरे भाई कैसे? मूर्ख हो तुम। पागल हो तुम।' उसने कहा—'महाराज! आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं आपका मौसेरा भाई हूं, सगा नहीं।' राजा ने कहा—'बात समझ में नहीं आई।' उसने कहा—

"आपदा च मम माता, तव माता च सम्पदा।
आपत् सम्पदे भगिन्यौ, तेनाहं तव बान्धवः॥"

'राजन्! मेरी मां का नाम है आपदा और आपकी मां का नाम है सम्पदा। आपदा और सम्पदा—दोनों सगी बहनें हैं। मैं आपकी मौसी आपदा का लड़का हूं। आपका मौसेरा भाई हूं।'

राजा उस ब्राह्मण की उक्ति पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे भरपूर पुरस्कार देकर भाई-सा बना डाला।

अनेकान्त है जीवन दर्शन

कुछ भी अलग नहीं है। सब कुछ जुड़ा हुआ है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद, सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध, सर्वथा अपना या सर्वथा पराया—यह केवल विपर्यय है, यथार्थ नहीं। यदि हमें यथार्थ के साथ रहना है तो हमें जीवन और व्यवहार में अनेकान्त-दृष्टि को विकसित करना होगा। सबसे बड़ी भूल यह हुई कि हमने अनेकान्त को तत्त्ववाद मान लिया। यही मान लिया कि तत्त्व की व्याख्या में ही अनेकान्त का उपयोग होता है। यह भूलभरी मान्यता है। जो व्याख्या जीवन के साथ नहीं जुड़ती, वह तत्त्व के साथ भी नहीं जुड़ सकती। जीवन भी तो एक तत्त्व है। वह महान् तत्त्व है। सारी व्याख्याएं उसी से निकलती हैं। सारे सिद्धांत, धारणाएं और वाद उसी में से निकलते हैं। जीवन से अलग-थलग किसी तथ्य या तत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती। जिस तत्त्व का जीवन के साथ कोई स्पर्श ही नहीं होता,

उसका किसी के साथ स्पर्श नहीं हो सकता। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"—जिसने यह सूत्र दिया, उसने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात दी। जितना सत्य पिण्ड में है, उतना ब्रह्माण्ड में है। जितना ब्रह्माण्ड में है, उतना पिण्ड में है।

बहुत विलक्षण है हमारा जीवन और बहुत विलक्षण है हमारा शरीर। इस शरीर में अनन्त सत्य छिपा हुआ है। स्थूलदृष्टि से लगता है—ये पैर हैं और ये आंखें हैं। यथार्थ में ये दो कहां हैं? यदि वास्तव में ये दो हों तो आयुर्वेद के आचार्यों का यह कथन मिथ्या हो जाता कि यदि आंख बीमार हो तो पैर की अंगुलियों पर दवा लगाओ। आंख ठीक हो जाएगी। बहुत विचित्र लगता है यह कथन। किन्तु यह यथार्थ से परे नहीं है। मुंह पर जैसे आंखें हैं, वैसे ही पैरों में भी हैं। पिच्युटरी ग्लैण्ड यदि भृकुटि के बीच में है तो वह पैर के अंगूठे में भी है। जितने ग्लैण्ड या अन्य अवयव ऊपर हैं, उतने ही नीचे पैरों में हैं। आज ये सब विज्ञान द्वारा सम्मत हैं। सारा शरीर एक है जुड़ा हुआ है। इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेसर चिकित्सा प्रणालियों का विकास हुआ है। समूचे शरीर में संवादी अंग हैं। पैर का दर्द है, रीढ़ की हड्डी को दबाओ, वह दर्द मिट जायेगा। पैर के अंगूठे को दबाते ही सिरदर्द मिट जाता है। दबाने की विधि होती है, उसका ज्ञान आवश्यक है।

द्वैत और अद्वैत

साथ जुड़ा हुआ है, अलग कुछ भी नहीं है। बाहर भिन्न दीखता है, भीतर में सारा जुड़ा हुआ है। अनेकता के नीचे छिपी हुई एकता को हम नहीं जानते। इसी प्रकार एकता के नीचे छिपी हुई अनेकता को भी हम नहीं जानते। हमारी दृष्टियां एकांगी हैं, बंटी हुई हैं। इसीलिए दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत का विकास हुआ, तो द्वैत का भी विकास हुआ। एक सिद्धान्त यह आया कि सब कुछ एक है, दो है ही नहीं। बिल्कुल अद्वैत। अद्वैत भी दो प्रकार का हो गया। एक है चार्वाक का अद्वैत और दूसरा है वेदान्त का अद्वैत। एक का दर्शन है कि अचेतन है, चेतन कुछ भी नहीं है। अचेतन से चेतन उत्पन्न होता है। नास्तिकों की यही घोषणा है कि चेतन वास्तविक नहीं है। मूल तत्त्व है अचेतन। केवल परमाणु, केवल पुद्गल। उससे चेतन पैदा होता है। अचेतन की ऐसी संरचना होती है कि उसमें से चेतन पैदा हो जाता है। जड़ाद्वैत या अचेतनाद्वैत।

दूसरा दर्शन है कि चेतन है, अचेतन कुछ भी नहीं है। चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है। यह है ब्रह्माद्वैत या चेतनाद्वैत।

दोनों दर्शन दो सिराओं पर हैं। एक अचेतन को पकड़े हुए है और दूसरा चेतन को पकड़े हुए है। एक है अचेतनाद्वैत का सिरा और एक है चेतनाद्वैत का सिरा।

न सर्वथा विरोध न सर्वथा अविरोध

अनेकान्त ने दोनों के मध्य रहे हुए संबन्ध की खोज की और तीसरा नियम दिया कि चेतन और अचेतन में न सर्वथा विरोध है और न सर्वथा अविरोध है। हम नहीं कह सकते कि चेतन अचेतन का सर्वथा विरोध है और यह भी नहीं कह सकते कि अचेतन चेतन का सर्वथा विरोधी है। यदि वे सर्वथा विरोधी होते तो आत्मा अलग होती, शरीर अलग होता। आत्मा और शरीर दोनों इसीलिए जुड़े हुए हैं कि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है। बहुत बार यह प्रश्न दार्शनिक जगत् में उभरता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त शरीर के साथ कैसे जुड़ी? अमूर्त आत्मा मूर्त कर्म के साथ कैसे जुड़ी? चेतन आत्मा अचेतन शरीर के साथ कैसे जुड़ो? यदि हम दोनों को सर्वथा विरोधी मान लें तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि हम यह मानें कि ये दोनों सर्वथा विरोधी नहीं हैं तो समाधान मिल सकता है। सर्वथा विरोध ही तो जुड़े नहीं रह सकते।

पुत्र ने कहा—पिताजी! आजसे आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। मैं आपसे अलग होना चाहता हूं। पिता बोला—कोई कठिनाई नहीं है। इतने दिन तुम मेरे साथ भोजन करते थे। आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन किया करूंगा।

ऐसा ही है सम्बन्ध चेतन और अचेतन के बीच। दोनों कभी अलग नहीं होते, जुड़े हुए रहते हैं। दोनों एक दूसरे का पूरा उपयोग करते हैं। चेतन, अचेतन का उपयोग कर रहा है और अचेतन, चेतन का उपयोग कर रहा है। चेतन, अचेतन को टिकाए हुए है और अचेतन, चेतन को टिकाए हुए है। नियम यही है कि दोनों में सर्वथा विरोध नहीं है। दोनों में सर्वथा विलक्षणता नहीं है। दोनों में साम्य भी है। जितने भी वस्तु-धर्म हैं वे सब एक दूसरे की पूरकता में चल रहे हैं। केवल पर्यायों का भेद है। जब हम व्यक्त पर्यायों के आधार पर देखते हैं तो भेद दिखाई देता है, केवल भेद, भेद और भेद। जब हम अव्यक्त पर्यायों को देखते हैं तब अभेद दिखाई देता है, केवल अभेद, अभेद और अभेद।

हमारा प्राणी-जगत् बहुत स्पष्ट है। प्राणी जगत् में वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पशु, मनुष्य आदि—भेद ही भेद दिखाई देता है, क्योंकि हम व्यक्त पर्याय को देखते हैं। जब हम अव्यक्त पर्याय को देखना प्रारम्भ करेंगे तब सारा उलट जाएगा, मिट जाएगा। केवल बचेगा चैतन्य। वह सब प्राणियों में समान

है। वनस्पति में चैतन्य है। कीड़ों-मकोड़ों में चैतन्य है। पशु और आदमी में चैतन्य है। चैतन्य, केवल चैतन्य बचेगा। सारे पर्दे हट जाएंगे। केवल एक शेष रहेगा, सब मिट जाएंगे। अभेद रहेगा, चैतन्य रहेगा। सारे भेद समाप्त हो जाएंगे। भेद और अभेद, विरोध या अविरोध—यह मात्र पर्यायों का विश्लेषण है। वस्तु में दोनों धर्म एक साथ रहते हैं। विरोध और अविरोध, अस्तित्व और नास्तित्व, सत्ता और असत्ता, शाश्वतता और अशाश्वतता—ये युगल एक साथ रहते हैं। केवल पर्याय का अन्तर है, हमारे देखने के कोण का अन्तर है। हम स्थूल पर्याय को देखते हैं और उसी के आधार पर वस्तु का विश्लेषण कर देते हैं। एक बात को फिर हम समझ लें कि हमारे सारे निर्णय, सारी मान्यताएं, सारी धारणाएं और सिद्धांत—स्थूल नियमों के आधार पर बनते हैं। उनको हम शाश्वत नियम न मानें, यथार्थ न मानें, सूक्ष्म जगत् के नियम न मानें।

निश्चय और व्यवहार

अनेकान्त ने सूक्ष्म और स्थूल—दोनों नियमों की व्याख्या कीऔर दो कोण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिए। एक कोण —निश्चय नय और दूसरा कोण है—व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यों को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमों को जानना हो तो व्यवहार नय का सहारा लो। जब ये दोनों नय सापेक्ष होते हैं, समन्वित होते हैं, तब हम इस सच्चाई तक पहुंच जाते हैं कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नहीं, किन्तु समन्वित रहते हैं। समन्वय की एक बड़ी धारा हमारे सामने प्रवाहित हो जाती है। इसी समन्वय की धारा के आधार पर मध्यकाल में जैन आचार्यों ने बहुत बड़ा काम किया और प्रत्येक दर्शन के साथ समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

एक जैन आचार्य ने लिखा है कि आत्मा और पुद्गल में कोई अन्तर नहीं है। केवल एक धर्म का अन्तर है। आत्मा चेतन है, पुद्गल चेतन नहीं है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं और पुद्गल में भी अनन्त धर्म हैं। उन अनन्त धर्मों में केवल एक धर्म—चेतन का अन्तर है और कोई अन्तर नहीं है। बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथन है। जब अनन्त धर्मों में सब मिलते हैं, केवल एक नहीं मिलता, तो समानता है ही सबकी। बहुत सारी समानता है। अन्तर डालने वाला एक ही मुख्य गुण होता है।

समानता की अनुभूति

गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण चेतन और अचेतन सब में समान रूप से मिलता है। आत्मा चेतन होते हुए अमूर्त है और अचेतन पदार्थ भी अमूर्त होते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अचेतन हैं,

पर हैं अमूर्त। इस दृष्टि से चेतन आत्मा और अचेतन धर्मास्तिकाय समान है। दोनों पुद्गलातीत और अभौतिक है। धर्मास्तिकाय द्रव्य है पर भौतिक नहीं है, अभौतिक है। हम बहुत बार कह देते हैं कि आत्मा अभौतिक है। परन्तु क्या धर्मास्तिकाय अभौतिक नहीं है? दोनों (आत्मा और धर्मास्तिकाय) में बहुत बड़ी समानता है। समानता अधिक है, असमानता कम है। जो स्थूल पर्याय को पकड़ता है वह असमानता को पकड़ लेता है, समानता को छोड़ देता है। इसीलिए विवाद, सम्प्रदायवाद, संघर्ष आदि होते है। स्थूल पर्यायों को पकड़ता है वह असमानता वेा पकड़ लेता है, समानता को छोड़ देता है। इसीलिए विवाद, सम्प्रदायवाद, संघर्ष आदि होते हैं। स्थूल पर्यायों के आधार पर ये सब घटित होते हैं। बाह्य जगत् में भिन्नता अधिक है, समानता कम और अन्तर जगत् में समानता अधिक है, भिन्नता कम। हम ध्यान के इस उपक्रम के द्वारा यही करना चाहते हैं कि हमारी ऐसी दृष्टि विकसित हो जाए, प्रज्ञा इतनी निर्मल हो जाए कि हम असमानता के नीचे छुपी हुई समानता को देख सकें।

कबीर का बेटा कमाल घास काटने जंगल में गया। सांझ तक घर नहीं लौटा। कबीर चिन्तित हो गए। वे उसे खोजते-खोजते जंगल में पहुंचे। उन्होंने देखा—कमाल पागल की तरह खड़ा है निष्क्रिय। वह घास को देख रहा है, काट नहीं रहा है। कबीर ने उसे झझकोरा। पूछा—क्या कर रहे हो? सूर्य अस्त हो चुका है। घास काटा ही नहीं। कमाल बोला—किसे कांटू? क्या अपने आपको काटूं? जैसी प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, वैसी ही प्राणधारा इस घास के भीतर प्रवाहित होते हुए देख रहा हूं। अब कैसे काटूं? किसे काटूं? अब कमाल घास नही काट सकता।

इस समानता की अनुभूति को भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी—**'तुमंसि नाम सच्चेव ज हंतव्वं ति मन्नसि'**—पुरुष! तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है। इसी सन्दर्भ में समानता ही अनुभूति कि उनके ये वाक्य माननीय हैं—

'तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
(जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।)

'तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि।
(जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।)

'तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मंन्नसि।
(जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।)

'तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्देवेयव्वं ति मन्नसि।
(जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।)

यह परम सत्य की अनुभूति अनेकान्त के आधार पर हुई है। अनेकान्त को वही स्वीकार कर सकता है जो राग-द्वेष से विमुक्त है। जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की प्रचुरता है वह अनेकान्त को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में अनेकान्त ध्यान का दर्शन है, साधना का दर्शन है। जिस व्यक्ति की चेतना निर्मल होती है, राग-द्वेष से विमुक्त होती है उसमें अनेकान्त की दृष्टि जागती है, सत्य की प्रज्ञा जागती है, अन्यथा नहीं।

श्वास-दर्शन से आत्मा-दर्शन

प्रेक्षाध्यान पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। उसका पहला चरण है—श्वास-दर्शन। प्रश्न होता है—क्या श्वास आत्मा है? हां, श्वास आत्मा है, शरीर भी आत्मा है, मन और वाणी भी आत्मा है, सूक्ष्म शरीर और कर्म-शरीर भी आत्मा है। इसका कारण है कि ये सब आत्मा से जुड़े हुए हैं। आत्मा की प्रकाश-रश्मियां श्वास तक पहुंचती हैं, शरीर और सूक्ष्म शरीर तक पहुंचती है, मन और वाणी तक पहुंचती हैं। श्वास प्राणधारा से संचालित होता है। प्राण शक्ति से उसमें चेतना आती है। जो व्यक्ति श्वास की चेतना को नहीं पकड़ पाता, वह आत्मा को कैसे पकड़ पाएगा? जो श्वास के प्रति नहीं जागता, वह आत्मा के प्रति कैसे जाग पाएगा? श्वास चैतन्य का एक हिस्सा है। जो उसके प्रति जाग जाता है, वह आगे बढ़ते-बढ़ते आत्मा तक जाग जाता है। जो श्वास के प्रति नहीं जागता, उसको भीतर जाने का अधिकार नहीं मिल सकता।

हमने अनेक दीवारें खींच रखी हैं। वे सारी टूट जाएं। हमारी दृष्टि बदल जाए तो यह सब संभव है।

दो भाई होते हैं। मकान बड़ा होता है। पहले दोनों में अगाध प्रेम होता है। वह समय निकल जाता है और साथ-साथ प्रेम भी चुकता जाता है। प्रेम का यह स्वभाव है कि वह पहले ज्यादा होता है, और समय बीतने के साथ-साथ कम होता चला जाता है।

पति-पत्नी रोज लड़ते थे। एक दिन पड़ोसी इकट्ठे हो गए। एक समझदार आदमी ने पूछा—इतने क्यों लड़ते हो? क्या कारण है? रोज-रोज लड़ना अच्छा नहीं है। पति बोला—सदा से ऐसा नहीं लड़ते। यह शादी का तीसरा वर्ष है। पहले वर्ष में पत्नी बोलती और मैं सुन लेता। दूसरे वर्ष में मैं बोलता, पत्नी सुन लेती। यह तीसरा वर्ष है। हम दोनों बोलते हैं और पड़ोसी सुनते हैं।

प्रश्न है कि हम भी उस स्थिति तक कैसे पहुंचे, जिससे बाहर का कुछ न सुनें और अपने भीतर का सुन सकें। यह संभव हो सकता है श्वास-दर्शन की प्रक्रिया के द्वारा। इस प्रक्रिया से गुजरते-गुजरते हम आत्मा तक पहुंच सकते हैं।

प्रवचन ३

संकेतिका

१. अतीत और वर्तमान सापेक्ष है—स्थूल जगत् के लिए जो अतीत है, सूक्ष्म जगत् में वह वर्तमान है।
२. भविष्य और वर्तमान सापेक्ष है—मनःपर्यवज्ञान।
३. पूर्ण कौन?—मैं।
अपूर्ण कौन?—वह भी मैं ही हूं।
दोनों कैसे?—भाषा के जगत् में जीता हूं इसीलिए, चिन्तन के जगत् में पूर्ण और अपूर्ण—दोनों सापेक्ष हैं।
४. भाषा से परे होने पर न कोई पूर्ण और न कोई अपूर्ण। फिर केवल अस्तित्व।
५. सापेक्षता में गौण और मुख्य।
६. ध्यान में आंख बन्द—भीतर की आंख खुलती है।
७. श्वास पौद्गलिक भी है। श्वास प्राण भी है।
८. प्राण को देखना आत्मा को देखना है।
९. वर्गणाएं:रश्मिवत्।
१०. कथन आपेक्षिक होता है। निरपेक्ष कथन कभी नहीं होता।
११. अकबर और आचार्य हीरविजयजी।

सापेक्षता

आदमी पूर्ण भी अपूर्ण भी

एक भाई ने पूछा—पूर्ण कौन है? मैंने उत्तर दिया—मैं हूं। फिर उसने पूछा—अपूर्ण कौन है? मैंने कहा—वह भी मैं हूं। वह बड़ा असमंजस में पड़ गया। उसने कहा—दोनों कैसे? पूर्ण हैं तो अपूर्ण कैसे और अपूर्ण हैं तो पूर्ण कैसे? मुझे फिर उत्तर देना पड़ा। मैंने कहा—मैं भाषा के जगत् में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं। मैं चिन्तन के जगत् में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं। मैं स्मृति, कल्पना और बुद्धि के जगत् में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं।

भाषा के जगत् में जीने वाला कोई भी व्यक्ति केवल पूर्ण नहीं हो सकता और केवल अपूर्ण भी नहीं हो सकता। भाषा-जगत् से परे पूर्ण और अपूर्ण की कोई कल्पना भी नहीं है। यह हमारी भाषा की सापेक्षता है। हमने चिन्तन और भाषा के योग से बहुत सारी ऐसी कल्पनाएं कर लीं जो भाषा को पार कर अभाषा के जगत् में जाने पर, शब्दों की सीमा को लांघकर अशब्द की सीमा में जाने पर खंडित हो जाती है। वहां केवल बचता है अस्तित्व। जो होता है वही बचता है, शेष सारी कल्पनाएं समाप्त हो जाती है। यदि यह एक सत्य समझ में आ जाए तो बहुत सारे दार्शनिक विवाद भी समाप्त हो जाएं। दार्शनिक उलझनें, दार्शनिक विवाद—ये सारे भाषा के जगत् मेंचलते हैं। सत्य भाषा से परे हैं। सत्य का और भाषा का कभी योग नहीं हो सकता, हो ही नहीं सकता। अनेकान्तदृष्टि में इस पर बहुत विशद् प्रकाश डाला गया है। हम जिसे सत्य मानते हैं, वह अनेकान्त की दृष्टि से सापेक्ष सत्य ही होगा। तो प्रश्न होता है कि क्या हमें सत्य को सत्य कहने का अधिकार नहीं है? हम जो भी कहें, क्या वह असत्य होगा? वह सत्य हो सकता है यदि तुम अपनी दुर्बलता को स्वीकार कर लो। यदि तुम अपनी असमर्थता या भाषा दुर्बलता स्वीकार कर लो तो वह सत्य हो सकता है। भाषा की अक्षमता यह है कि वह एक क्षण में, एक शब्द के द्वारा, किसी एक सत्य का ही प्रतिपादन कर सकती है, जबकि सत्य अनन्त होता है। वह एक शब्द के द्वारा कभी गृहीत नहीं होता।

भाषा की दुर्बलता

प्रत्येक तत्त्व में अनन्त धर्म होते हैं। एक परमाणु में भी अनन्त धर्म होते हैं

और वे भी विरोधी-युगल। अनन्त धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना किसी के वश की बात नहीं है। शब्द के द्वारा एक क्षण में केवल एक पर्याय का, एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। शेष अनन्त रह जाता है। हम यदि एक पर्याय को सत्य मान लेते हैं, तो शेष बचे अनन्त पर्याय झुठला दिए जाते हैं। अनन्त सत्य खंडित हो जाता है और सत्य का एक अंश मात्र स्वीकृत होता है। इसे ही यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वहां भ्रान्ति होती है।

भाषा की यह सहज दुर्बलता है। जिसे मिटाया नहीं जा सकता। आदमी सोच सकता है, एक क्षण में एक सत्य कहा जाता है, बहुत लम्बा जीवन है, सारे जीवन में तो सम्पूर्ण सत्य कह दिया जाएगा। यह भ्रान्ति है। न भूतं, न भविष्यति। न ऐसा हुआ है और न ऐसा होगा। इस संसार में जन्म लेने वाले किसी भी व्यक्ति ने आज तक पूरे सत्य का न कभी प्रतिपादन किया है न कभी कर पाएगा। संभावना भी नहीं है। जीवन के क्षण कितने होते हैं? आयु की अवधि कितनी होती है? बहुत थोड़े क्षण है और छोटी अवधि है। विराट् सत्य के सामने, अनन्त धर्म वाले सत्य के सामने किसी भी प्राणी की आयु की सीमा तिनके पर स्थित छोटी-सी बूंद जितनी भी नहीं है। इतना अल्प आयुष्य और इतना विराट् सत्य। आयुष्य उस सत्य की तलहटी को भी नहीं छू पाता!

स्यात् शब्द का नया अर्थ

केवली, भगवान् या सर्वज्ञ अनन्त सत्य को जान लेते हैं, किन्तु उनमें भी यह क्षमता नहीं है कि वे अनन्त सत्य को कह सकें। यह असंभव है। कोई महान् व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति, दस-बीस-पचास पर्यायों की अभिव्यक्ति कर सकता है। पूरे सत्य को वह कभी नहीं कह सकता। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य के कुछेक पर्यायों को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को हम अस्वीकार कर देते हैं, नकार देते हैं, तब सत्य से हटकर असत्य की ओर चले जाते हैं। हमारा प्रस्थान असत्य की दिखा में हो जाता है। इसीलिए अनेकान्त ने एक युक्ति प्रस्तुत की। उसने कहा—'तुम असत्य से बच सकते हो यदि तुम "स्यात" शब्द का सहारा लेकर चलते हो। जो कुछ कहा, उसके साथ "स्यात्" शब्द लगा लो। वह तुम्हे असत्य से बचा लेगा।' "स्यात्" का यहां भावार्थ होगा—"मैं पूर्ण सत्य कहने में असमर्थ हूं। सत्य का एक पर्याय मात्र प्रस्तुत कर रहा हूं।"

प्राचीन साहित्य में "स्यात्" शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूं। "स्यात्" शब्द का अर्थ है—अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। "स्यात्" शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह

स्वीकृति पहले ही दे देता है कि मैं जो कह रहा हूं उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखण्ड सत्य मत मान लेना। मैं केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अंश का प्रतिपादन कर रहा हूं। तुम्हे केवल एक अंश से परिचित करा रहा हूं। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता प्रगट करता हूं। मुझसे पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। तुम्हें सत्य के निकट ले जा रहा हूं। यह है "स्यात्" शब्द की सार्थकता।

एक विद्यार्थी घर पर मां से बोला—मां ! आज मुझे पुरस्कार मिला है। प्रतियोगिता थी। प्रश्न पूछा गया था। मैंने उत्तर दिया। मां ने कहा—तुम्हारा उत्तर सही था, इसीलिए पुरस्कार मिला। धन्यवाद ! साधुवाद ! उसने कहा-मां ! मेरा उत्तर पूर्ण सही नहीं था, किन्तु सत्य के निकट था, इसीलिए पुरस्कार मिला। मेरे साथियों के उत्तर गलत थे। मैं ने पूछा—क्या प्रश्न पूछा गया था ? उसने कहा—प्रश्न यह था कि गाय के पैर कितने होते है ? मेरे सब साथियों ने उत्तर दिया कि गाय के दो पैर होते हैं और मेरा उत्तर था—गाय के तीन पैर होते हैं। मेरे साथियों का उत्तर सत्य के निकट नहीं था। मेरा उत्तर सत्य के अधिक निकट था, इसलिए मुझे पुरस्कृत किया गया।

"स्यात्" शब्द सत्य के निकट ले जाता है, सत्य के साथ जोड़ देता है। उनके द्वारा पूरे सत्य की उपलब्धि तो नहीं होती। पूरा सत्य भाषा के माध्यम से उपलब्ध होता ही नहीं। "स्यात्" शब्द सत्य के परिसर में ले जाता है, इसलिए हम पुरस्कृत भी हो जाते हैं।

सत्य को साक्षात् करने की इससे सुन्दर युक्ति अन्यत्र नहीं मिलती। यदि 'स्यात्" जैसा निर्वचन होता तो इतने विवाद कभी नहीं होते, आग्रह नहीं होते। आग्रह बहुत पनपा है। जिसने जो जाना, देखा, आग्रह हो गया कि बस यही सत्य है। मैं जो कहता हूं, वही सत्य है।

राजा की सभा में एक पंडित था। वह बहुत विद्वान, तार्किक और अपनी बात पर अड़ने वाला। कोई भी आता और कहता कि यह सच बात है, पंडित तत्काल उसका खंडन कर देता। एक बार राजा ने कहा—पंडित, तुम बड़े नटखट हो। सबका खंडन कर देते हो।अच्छा, मेरा यह विचार है, बोलो यह कैसा है ? पंडित ने कहा—यह बिल्कुल गलत है क्योंकि यह आपका विचार है, मेरा नहीं। जो मेरा विचार नहीं है, वह सच नहीं हो सकता, गलत ही होगा।

सभी लोग ऐसा ही मानते है। सभी लोगों ने सीमा बनाकर घोषणा कर दी—मेरे विचार में आओ, तुम्हारा कल्याण होगा, स्वर्ग मिलेगा। अन्यथा नरक में

जाओगे। बड़ी अजीब दुनिया है। मैं कुछ सोचता हूं, बोलता हूं, तो दूसरा कहने में नहीं हिचकता कि यह सब मेरी नकल है। स्वतंत्र विचार जैसा कुछ भी नहीं है। अरे, सत्य का ठेका क्या किसी एक व्यक्ति ने ले रखा है? व्यक्ति में इतना प्रबल अहंकार और इतना बड़ा आग्रह हो जाता है कि सत्य नीचे दब जाता है और उस व्यक्ति का विचार मात्र ऊपर तैरता रहता है। विचार के बंधन से, चिन्तन की कारा से तथा स्मृति, कल्पना और बुद्धि की सीमा से परे जाने का एक मात्र उपाय है—स्यात् शब्द का सहारा। "स्यात्" शब्द अपेक्षा की ओर इंगित करता है। वह कहता है—जो कुछ कहा गया है, कहा जा रहा है उसे अपेक्षा से समझो। अपेक्षा से समझे बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है। आग्रह मत करो। अपेक्षा को समझो कि यह कथन किस अपेक्षा से, किस सन्दर्भ में किया गया है। शब्द की पकड़ खतरा पैदा कर देती है। वह सत्य से दूर ले जाती है। मैं बहुत बार सोचता हूं कि कहीं साधक मेरे शब्द को ही न पकड़ लें। मैं बार-बार कहता हूं—श्वास को देखना आत्मा को देखना है। कोई इस वाक्यांश के सन्दर्भ को समझे बिना पकड़ न ले। अन्यथा बड़ा अनर्थ घटित हो सकता है। अगर शब्द को पकड़ लिया तो साधक श्वास में ही अटक जाएंगे। आगे बढ़ने की गति टूट जाएगी। वे कभी आत्मा तक नहीं पहुंच सकेंगे। मेरा यह कहना कि श्वास को देखना आत्मा को देखना है, असत्य नहीं है। श्वास पौद्गलिक पदार्थ है, भौतिक है। परन्तु क्या श्वास प्राण नहीं है? जहां श्वास पौद्गलिक है, पर्याप्ति है, वहां श्वास प्राण भी है। दस प्राणों में एक प्राण है श्वास। प्राण आत्मा कैसे नहीं है? जो प्राण है वह आत्मा है, आत्मा से जुड़ा हुआ है। यदि अपेक्षा को न समझा जाए तो बहुत अनर्थ हो जाता है। या तो हम इस बात को अस्वीकार कर दें कि श्वास को देखना आत्मा को देखना नहीं है या फिर श्वास को देखना छोड़ दें। श्वास को देखने को छोड़ने का अर्थ है—साधना के प्रथम द्वार में प्रवेश किए बिना ही घर लौट आना। आगे के द्वार बंद ही पड़े रह जाते हैं। आगे का विकास असम्भव हो जाता है और यदि हम श्वास को ही पूर्ण आत्मा मानकर अटक जाते हैं, तो आगे एक कदम भी नहीं रख पाते। वहीं गतिरोध हो जाता है।

निरपेक्ष और सापेक्ष

हम निरपेक्ष सत्य की बात न करें। सत्य की सापेक्षता को बराबर मानकरचलें कि हमारा कथित सत्य सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। जहां निरपेक्ष सत्य है वहां निरपेक्ष और सापेक्ष की भाषा नहीं होती। वहां भाषा समाप्त हो जाती है। केवल सत्य सत्य रहता है, न निरपेक्ष और न सापेक्ष। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—जहां वास्तविक सत्य है वहां से भाषा लौट आती है। वहां बुद्धि भी नहीं जाती, चिन्तन

और मनन भी नहीं जाता। सब लौट आते हैं। वहां पहुंच ही नहीं पाते। हमारे सारे विकल्प बुद्धि और भाषा के सहारे चलते हैं। जिस व्यक्ति ने भाषा की नौकरी स्वीकार करली, जिसने बुद्धि, चिन्तन और मनन का दासत्व स्वीकार करलिया, उसने असत्य का दासत्व स्वीकार कर लिया।

एक दरबारी था बड़ा बुद्धिमान। वह बुद्धि के सहारे आगे बढ़ा और राजा को प्रिय हो गया। एक बार वह राजा के साथ भोजन के लिए बैठा था। रसोइया व्यंजन लेकर आया। उसने व्यंजन परोसा। दरबारी से पूछा—कहो, व्यंजन कैसा बना है? उसने कहा—बहुत ही स्वादिष्ट। रसोइये ने राजा से कहा—महाराज !आज सारी बुद्धि लगाकर व्यंजन बनाया है। आपको भी स्वादिष्ट लगा होगा? राजा बोला—बहुत खराब। इतना नमक डाल दिया है कि जहर-सा हो गया है। राजा ने दरबारी से पूछा—तुम क्या कहते हो? दरबारी बोला—जैसा आपका अनुभव है वैसा ही मेरा अनुभव है। व्यंजन रद्दी बना है। राजा ने कहा—अभी तो तुमने कहा था कि अच्छा बना है और अब कहते हो रद्दी बना है। दो बातें एक साथ कैसे? दरबारी बोला—महाराज ! मैं व्यंजन की नौकरी नहीं करता, आपकी नौकरी करता हूं।

यही स्थिति बनती है। जब हम भाषा, बुद्धि और चिन्तन की नौकरी करना प्रारम्भ कर देते हैं तब सत्य के साथ हमारा कोई संबंध ही नहीं रहता। हम सत्य से परे चले जाते है। भाषा की दुनिया में सापेक्षता के बिना सत्य के साथ सम्पर्क करने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है। हमें प्रत्येक कथन की सापेक्षता से ही समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों समझे? उसका एक बड़ा कारण है। उसका आधारसूत्र है गौण-मुख्य भाव। वस्तु-सत्य के दो पर्याय होते हैं। एक है गौण पर्याय और दूसरा है मुख्य पर्याय। एक है व्यक्त पर्याय और दूसरा है अव्यक्त पर्याय।

मुख्य एक ही होगा

जगत् का बहुत बड़ा नियम है कि मुख्य एक होता है, दो नहीं। जहां मुख्य दो होते हैं, वहां झमेला प्रारम्भ हो जाता है। ईश्वरवादियों ने ईश्वर को स्वीकार किया। उन्हें एक विशेषण लगाना पड़ा—**'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः ईश्वरः।'**

न्यायशास्त्र ने कहा—ईश्वर को एक क्यों मानें? इसका युक्तिपूर्ण उत्तर देते हुए कहा—यदि ईश्वर को अनेक मान लें तब सृष्टि के आदिकाल में बहुत कठिनाईयां पैदा हो जाएंगी। एक ईश्वर चाहेगा कि सृष्टि ऐसी हो और दूसरा चाहेगा कि अमुक प्रकार की हो। दोनों में विवाद हो जाएगा। सृष्टि फिर बनेगी ही नहीं। जहां अनेक

होते हैं वहां विवाद अवश्यंभावी है। एक में कोई विवाद या संघर्ष नहीं होता है। दो होते ही विवाद प्रारम्भ हो जाता है। संस्कृत में "दो" का वाचक शब्द है—द्वन्द्व। इसके दो अर्थ होते हैं। एक है संख्यावाचक दो और दूसरा है—कलह, युद्ध, संघर्ष। दो होने का अर्थ है—लड़ाई, संघर्ष। लोग पूछते हैं—पति-पत्नी दो हैं। दो हैं का अर्थ है लड़ाई का होना। यह विश्व का नियम है। दो हों और लड़ाई न हो तो आश्चर्य माना जा सकता है। इसीलिए ईश्वरवादियों ने एक ही ईश्वर माना, जिससे कोई लड़ाई न हो, कोई विवाद न हो।

सत्य के लिए भी एक का होना जरूरी है। व्यवस्था दी गई कि वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, किन्तु उनमें एक धर्म मुख्य होगा और शेष सारे गौण होंगे। एक धर्म व्यक्त होगा और शेष सारे धर्म अव्यक्त होंगे। बहुत ही सुन्दर व्यवस्था है। प्रकृति की भी यही व्यवस्था है। आदमी चलता है तब क्या दोनों पैर साथ-साथ उठते हैं? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। दोनों पैर साथ उठें तो चलना संभव ही नहीं, नियम यह है, एक पैरआगे बढ़ेगा तो दूसरा पैर पीछे खिसक जाएगा। यही गति का क्रम है। आज तक किसी ने इस नियम का अतिक्रमण कर गति नहीं की। गति होगी तो इसी क्रम से, अन्यथा स्थिति होगी, गति नहीं। एक पैर को ऊंचा कर खड़ा रहा जा सकता है। दोनों पैरों को ऊंचा कर खड़ा नहीं रहा जा सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥'

ग्वालिन बिलौना करती है तो एक हाथ आगे जाता है और दूसरा पीछे खिसक जाता है और जब दूसरा आगे जाता है तो पहला पीछे चला जाता है। इसी क्रम से मक्खन मिलता है। दोनों हाथ यदि एक साथ आगे या पीछे चले तो बिलौना नहीं होगा, नवनीत नहीं मिलेगा।

लोकतंत्र का विकास इसी गौण-मुख्य व्यवस्था के आधार पर हुआ था। एक व्यक्ति मुख्य बनता तो शेष गौण होकर पीछे चले जाते। दूसरा कोई मुख्यता में आता तो पहले वाला पीछे खिसक जाता। यह उचित व्यवस्था है। जब एक कुर्सी पर सौ आदमी बैठना चाहें तो लोकतंत्र की व्यवस्था टूट जाती है।

अनेकान्त का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएंगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा कर चलेगा। वह कभी निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। सब उसके साथ जुड़े

होते हैं और वह सबको अपने साथ जोड़े रखता है। कोई भी निरपेक्ष नहीं हो सकता।

संघ में एक आचार्य बनता है और शेष उसके शिष्य रहते हैं। क्या आचार्य बनने वाला निरपेक्ष हो जाएगा। कभी नहीं। पूज्य कालूगणी कहा करते थे कि आचार्य और अधिक सापेक्ष होता है। पग-पग पर उसे दूसरों की अपेक्षा रखनी पड़ती है। साधु इतना सापेक्ष नहीं होता। वह बहुत सारे कार्य स्वतंत्र रूप से सम्पन्न कर लेता है। आचार्य का उठना, बैठना, सोना, बोलना, भोजन करना, इधर से उधर जाना, सब सापेक्ष होता है, दूसरे साधुओं के सहारे होता है। आचार्य की निरपेक्षता सीमित हो जाती है। एक बार आचार्यश्री ने मुझसे कहा—कभी-कभी मन होता है कि अकेला चुपके-से जाऊं और काम कर लूं। मैंने कहा—आप ऐसा करेंगे तो दूसरों के लिए और अधिक भारी पड़ जाएगा, क्योंकि पता लगे बिना रहेगा नहीं और पता लगते ही पांच-दस साधु उधर दौड़ेंगे। इसमें कोई लाभ नहीं होगा।

हम यह न भूलें कि समूचे जगत् की व्यवस्था सापेक्षता के आधार पर चल रही है। कुछ भी और कोई भी निरपेक्ष नहीं है। भाषा और व्यवस्था के जगत् में कोई निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। सबके सब सापेक्ष हैं।

ध्यान-काल में मैं कहता हूं—आंखे बन्द कर लें। इसको भी आप निरपेक्ष न मानें। साधना के क्षेत्र में अनेकान्त का पूरा उपयोग होता है। हमें सापेक्षता का उपयोग करना है। आंख बन्द करें। किसलिए? इसके पीछे बहुत बड़ी अपेक्षा है कि बाहर से आने वाले प्रभाव साधक को प्रभावित न करें। साधक प्रभावों से बच जाए। तो क्या खुली आंखों से ध्यान नहीं हो सकता? खुली आंखों से भी ध्यान हो सकता है। बहुत अच्छा हो सकता है। जब विकल्प अधिक आने लगें, सताने लगें, तब खुली आंखों से ध्यान करना लाभप्रद होता है, विकल्प एक साथ समाप्त हो जाते हैं। फिर प्रश्न होता है कि क्यों नहीं खुली आंखों से ही ध्यान किया जाए? खतरे को भी समझ लें। जब आंखे बन्द होती हैं तब बाहर को देखना बन्द हो जाता है और भीतर अधिक सक्रिय बन जाते हैं। जब खुली आखों से ध्यान किया जाता है तब बाहर को देखने लग जाते हैं और भीतर से कुछ हट जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसीलिए तीसरी बात कही कि ध्यान-काल में आंखें अधमुन्दी रहे, न पूरी खुली और न पूरी बन्द, अधखुली आंखें, यह सबसे अच्छा तरीका है ध्यान करने का। इसका बहुत बड़ा लाभ है। इससे हमें यह बोध होता रहेगा कि एक बाहर की दुनिया है और एक हमारे भीतर की दुनिया है। आंख आधी बन्द है, इसका अर्थ है कि बाहर की दुनिया से भी सम्पर्क को तोड़ो। आंख आधी खुली है, इसका अर्थ है कि भीतर में भी कुछ है, उससे सम्पर्क जोड़ो। दोनों ओर हमारी दृष्टि लगी रहे। हम

बाहर के जगत् को भी स्वीकार करें और भीतर के जगत् को भी स्वाकार करें। यह बाहर और भीतर—दोनों सापेक्ष हैं। भगवान् महावीर ने कहा—"जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो"—जैसा भीतर में है, वैसा बाहर में है और जैसा बाहर में है वैसा भीतर में है। साधक दोनों को स्वीकार करे।

सापेक्षता महान् विज्ञान है

"स्यात" शब्द सापेक्षता का सूचक है। उसके बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता और उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह सचाई ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रगट हो चुकी थी, किन्तु हमारे दार्शनिक इसे पकड़ नहीं पाए। हमें साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिक को जिसने यह सप्रमाण प्रतिपादित किया कि सापेक्षता के बिना सत्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसने इस सचाई को इतनी प्रखरता से पकड़ा कि आज समूचा विज्ञान सापेक्षता के सिद्धांत पर चल रहा है। सापेक्षता का सिद्धान्त जब तक विकसित नहीं हुआ था, तब तक की सारी मान्यताएं, विज्ञान की सारी धारणाएं, आज मिथ्या प्रमाणित हो रही है। आज भौतिकविज्ञान के क्षेत्र में, गणित के क्षेत्र में, सांख्यिकीविज्ञान के क्षेत्र में अनेकान्त का खुलकर प्रयोग किया जा रहा है, सापेक्षता का उपयोग मुक्तभाव से हो रहा है। आज विज्ञान की यह महत्त्वपूर्ण मान्यता है कि सापेक्षता के बिना किसी महान् की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब महान् वैज्ञानिक आईंस्टीन ने कहा कि देश और काल सापेक्ष हैं, तब वैज्ञानिक जगत् में एक भयंकर हलचल हुई थी। अनेक वैज्ञानिकों ने इसको स्वीकार नहीं किया। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि देश और काल सापेक्ष कैसे हो सकते हैं। किन्तु धीरे-धीरे यह सापेक्षता बुद्धिगम्य होती गई, प्रमाणित होती गई और आज देश-काल की सापेक्षता का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। हम सारी घटना की व्याख्या देश और काल के आधार पर करते हैं, किन्तु यह भुला देते हैं कि देश और काल सापेक्ष हैं। देश-काल के सापेक्ष होने की बात एक वैज्ञानिक ने कही, न कि अनेकान्त और स्याद्वाद को मानने वाले जैनों ने। उन्होंने इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। कितना अच्छा होता कि जो बात आइंस्टीन ने कही वह बात कोई जैन दार्शनिक कहता, अनेकान्तवाद को मानने वाला प्रतिपादित करता। क्या उनके सामने ये कल्पनाएं स्पष्ट नहीं थी? सापेक्षता का विचार स्पष्ट नहीं था? सारी कल्पनाएं और विचार स्पष्ट थे, पर नए संदर्भ में उसके कथन की बात नहीं सूझी। क्या जैन मानते हैं कि काल निरपेक्ष है। नहीं, काल सर्वथा सापेक्ष है। हमने काल को तीन भागों में विभाजित किया—भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल। क्यों

विभाजित किया ? काल कभी विभक्त होता नहीं, टूटता नहीं। काल कभी ऐसा नहीं होता कि आप उसे अतीत मानें। आज का वैज्ञानिक इस ओर परीक्षण में संलग्न है दो हजार, पांच हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर, बुद्ध, कृष्ण आदि महान् व्यक्ति को साक्षात् संदेश देते हुए आज के आदमी को दिखा दिया जाए। वर्त्तमान में जीनेवाला आदमी महावीर और बुद्ध को प्रवचन करते हुए साक्षात् देखले, उसके प्रवचन सुन ले। वह महावीर को समता और अहिंसा का प्रवचन करते हुए, बुद्ध को करुणा का संदेश देते हुए और कृष्ण को गीता का उपदेश करते हुए साक्षात् देख ले, दिखा दिया जाए। क्या ऐसा संभव हो सकता है ? साधारण व्यक्ति के लिए यह असंभव प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जो मर चुके, समाप्त हो चुके, जिनके पार्थिव शरीर जला दिए गए, उनको कैसे दिखाया जा सकता है ? यह तो अतीत की घटना हो गई। अतीत को वर्तमान के रूप में कैसे रूपायित किया जा सकता है ? मेरे लिए और आपके लिए यह अतीत की घटना हो सकती है, किन्तु दिग् और काल को सापेक्ष मानने वाले वैज्ञानिकों के लिए वह अतीत की घटना नहीं है।

चिन्तन की प्रक्रिया और उनके चित्र

हम इस बात को भूल जाते हैं कि जैन आगमों में पांच प्रकार के ज्ञान प्रतिपादित हैं। उनमें चौथा है—मनःपर्यवज्ञान। इस ज्ञान का अधिकारी दूसरों के मन को पढ़ने वाला होता है। वह दूसरों के विचारों को जान लेता है। नन्दी सूत्र में ज्ञान की विशद चर्चा है। इस ज्ञान की चर्चा करते हुए सूत्रकार ने कुछ प्रश्न उपस्थित किए हैं और उनका समाधान भी दिया है। प्रश्न है—क्या मनःपर्यवज्ञानी दस हजार वर्ष पूर्व हुए किसी व्यक्ति के विचारों को जान सकता है ? उत्तर की भाषा में कहा गया—हां, वह बहुत ही विशद रूप से जान सकता है। फिर प्रश्न पूछा गया—क्या मनःपर्यवज्ञानी पचास हजार वर्ष पश्चात् होने वाले व्यक्ति के विचारों को जानने में सक्षम है। काल एक हो गया। न अतीत रहा और न भविष्य रहा, सारा वर्तमान हो गया। वह सापेक्ष हो गया। जिसको हम दस हजार वर्ष पहले का मानते हैं, वह आज भी है। जिसको हम पचास हजार वर्ष बाद होने वाला मानते हैं, वह आज भी है। कैसे ? जैन दार्शनिकों ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। उन्होंने कहा है—हमारा मन पौद्गलिक है। हम पुद्गलों के माध्यम से चिन्तन करते हैं। पुद्गलों की वर्गणाएं हैं, उनके समूह और संघात हैं। हमने चिन्तन के लिए पुद्गलों का ग्रहण किया। चिन्तन करने के बाद उन पुद्गलों का विसर्जन कर दिया। वे पुद्गल आकास में व्याप्त हो गए। आकाश एक बड़ा भण्डार है, खजाना है, अद्भुत है। वहां बहुत कुछ पड़ा है। अच्छा है कि आज का आदमी उसे देख नहीं पा रहा है, अन्यथा वह उस विशाल भण्डार को लूटने के

लिए ललचा जाए। अन्यान्य खजानों का और भण्डारों का मोह भी उसका टूट जाए। जो आदमी आकाश के इस अनन्त खजाने की खोज में निकल पड़े तो शेष सारे खजानों की खोज समाप्त हो जाएगी। इस हाल में जहां हम बैठे हैं, वहां न जाने कितने प्राणियों के सोचे हुए चित्र लटक रहे हैं। लाखों-करोड़ों चित्र हैं। उन चित्रों को हम देख सकते हैं। चित्र चित्र के रूप में बने हुए हैं। इन चित्रों को किसी चित्रकार ने चित्रित नहीं किया। किन्तु प्रत्येक आदमी जो सोचता है, वह उसके मन में चित्र रूप में उभरता है। चिन्तन का चित्र पढ़ा नहीं जाता, देखा जाता है। चिन्तन भाषा में नहीं होता, चित्र में होता है आप जानते हैं कि कुछेक राष्ट्रों की लिपि चित्रात्मक है। उनका सारा व्यवसार चित्र के माध्यम से होता है, लिपि के द्वारा नहीं, अक्षरों के द्वारा नहीं।

हमारे मन का कार्य है—चित्र तैयार करना। एक आदमी मकान के बारे में सोचता है तो दिमाग में मकान का चित्र बन जाता है। मोटरकार के विषय मेंसोचता है तो मस्तिष्क में मोटर का चित्र बन जाता हैऔर रोटी के बारे में सोचता है तो रोटी का चित्र उभर आता है। न जाने एक दिन में हम कितने-कितने चित्रों का निर्माण कर देते हैं। विश्व में ऐसा एक भी चित्रकार नहीं है जो एक दिन में इतने चित्र बना सके। सारे चित्रकार मिलकर भी इतने चित्र नहीं बन सकते। कौन व्यक्ति ऐसा है जो चित्रकार नहीं है। हम सब चित्रकार हैं। दुनिया उसी को चित्रकार मानती है जो दस-बीस-पचास चित्र बना लेता है। परन्तु आज प्रत्येक आदमी हजारों-लाखों-करोड़ों चित्र बनाता है, पर दुनिया उसे चित्रकार नहीं कहती। बड़ी विचित्र बात है। यह काल्पनिक तथ्य नहीं है, एक यथार्थ है।

अमेरिका में एक आदमी हुआ है। उसमें बड़ी विचित्र शक्ति विकसित हुई है। वह किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है, वह चित्र स्पष्ट रूप से मस्तिष्क में उभर आता है। हाई फ्रीक्वेन्सी के कैमरे से वे चित्र उतारे गए। चिन्तन के अनुरूप वे चित्र थे। यह एक आश्चर्य है। प्रसद्धि पत्र "टाइम्स" में उसके चिन्तन के चित्र प्रकाशित हुए हैं। जब उसने मोटर के विषय में सोचा तो सुन्दर मोटर का चित्र कैमरे में उतरा। जब उसने बहुमंजिले मकान के विषय में सोचा तो कैमरे में वह सुन्दर चित्र उभर आया।

तदाकार रश्मियों का विसर्जन

प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में चिन्तन के चित्र उभरते हैं। जैसा चिन्तन होता है वैसा ही चित्र बन जाता है। दूसरा चित्र आते ही पहला चित्र मस्तिष्क से निकल कर आकाश के भण्डार में समा जाता है। यह क्रम चलता रहता है। जो चित्र आकाश

के भण्डार में चला जाता है, वह वहां लाखों-करोड़ों-अरबों वर्षों तक पड़ा भी रह सकता है। फिर हमें क्यों आश्चर्य हो कि आज महावीर हमें उपदेश देते हुए दिखाई दे दें। फिर हमें क्यों आश्चर्य हो कि ऋषभ और बुद्ध हमें साक्षात् दिखाई दे जाएं। उनके चित्र नहीं है, किन्तु जैसा चित्र हमारे मन का होता है, वैसा ही रूप या चित्र हमें दिखाई दे जाता है। एक सिद्धान्त है—हर वस्तु रश्मिवान् होती है। प्रत्येक वस्तु में से रश्मियां निकलती हैं। यह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत है। वस्तु चाहे सचेतन हो या अचेतन, आदमी हो या पशु, घड़ा हो या मकान—सब में से तदाकार रश्मियां निकलती हैं और वे समूचे आकाश में व्याप्त हो जाती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो टेलीविजन का विकास नहीं होता। उस पर किसी का चित्र नहीं उभरता। यह चित्र तभी उभरता है जब तदाकार रश्मियां निकलती हैं। हमारे शरीर का चित्र निकलता है। हमारी वाणी का चित्र निकलता है। हमारे मन का चित्र निकलता है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा तथा अन्यान्य वर्गणाओं के पुद्गल समूचे आकाश में व्याप्त हैं।

सापेक्षता ही सब कुछ

यदि हमारी चेतना देश और काल की सीमा को तोड़कर अनन्त में चली जाए, विराट् हो जाए तो भूतकाल समाप्त हो जाएगा, भविष्य काल समाप्त हो जाएगा, केवल वर्तमान काल रह जाएगा। केवल वह होता है जिसकी चेतना अनन्त हो जाती है। हम अनन्त के अर्थों में न उलझें। इतना तो स्पष्ट है कि केवली के लिए न भूतकाल होता है और न भविष्यकाल होता है। वे समाप्त हो जाते हैं। वह प्रत्येक घटना को, चाहे फिर वह अतीत में घटित हुई हो या भविष्य में घटित होने वाली हो, वर्तमान प्रत्यक्षरूप से देखता है। सामने घटित होती हुई देखता है। उसके लिए केवल "आज" बचता है, वर्तमान बचता है। एक बात है, जब भूत और भविष्य नहीं रहते तो वर्तमान भी नहीं रहता। ये तीनों शब्द समाप्त हो जाते हैं। केवल घटना रहती है, जो है, वह रहता है, उसके सामने। अनन्तकाल में भी वह लुप्त नहीं होती। अतीत का अनन्त और भविष्य का अनन्त—केवल अनन्त रह जाता है, सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। क्या सापेक्षता के बिना ऐसा संभव हो सकता है? देश-काल की सीमा में बंधने वाला कोई भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। देश-काल हमारी घटनाओं के साथ जुड़े हुए हैं। वे इसलिए जुड़े हुए हैं कि किसी भी घटना की व्याख्या देश-काल के बिना नहीं हो सकती। हमने इन दो आयामों का सहारा लिया। इनके सहारे घटनाओं की व्याख्या की। इनके बिना व्याख्या संभव नहीं हो सकती। कभी देश का कथन करना पड़ता है और कभी काल का कथन करना पड़ता है। कहा

जाए—दाएं चलो, बाएं चलो। कौन दाएं और कौन बाएं। देश के बिना व्याख्या नहीं हो सकती। किसी एक बिन्दु को मानकर हम दाएं-बाएं का प्रयोग कर सकते हैं। अन्यथा न दायां है और न बायां। कुछ भी नहीं होता। अभी यहां (लाडनूं) दिन के साढ़े तीन बजे हैं। क्या मास्को में भी यही समय है अभी? क्या वहां भी अभी दिन है? दिन और रात की व्याख्या सापेक्षता के बिना नहीं हो सकती। सापेक्षता के बिना ऊपर और नीचे की व्याख्या नहीं हो सकती। ऊपर और नीचे—किस आधार पर कहते हैं? जब पृथ्वी को चपटी मानकर उसकी व्याख्या की तब ऊंचाई-निचाई की बात आई। जब पृथ्वी को गोल मानकर व्याख्या की तब ऊचांई भी सापेक्ष हो जाती है। गोलाई में उंचाई नहीं होती। ऊंचाई, निचाई, छोटा, बड़ा—ये सारे सापेक्ष हैं। छोटा-बड़ा। कौन छोटा और कौन बड़ा? कुछ भी नहीं। मात्र सापेक्षता है।

अध्यापक ने विद्यार्थी से कहा—ब्लेक बोर्ड पर जो लाइन खींची गयी है, उसको मिटाए बिना छोटी कर दो। मिटाना भी नहीं और छोटी भी कर देना, यह कैसे संभव हो सकता है? विद्यार्थी बुद्धिमान् था। उसने छोटी लाइन के नीचे एक बड़ी लाइन खींच दी, अब वह लाइन स्वत: छोटी हो गई।

छोटा-बड़ा सब सापेक्ष होता है। हल्का और भारी सापेक्ष होता है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में हल्का भी होता है और भारी भी होता है। जहां गुरुत्वाकर्षण की सीमा समाप्त होती है वहां हल्कापन भी नहीं रहता और भारीपन भी नहीं रहता। चिकना, मृदु और कठोर—तीनों सापेक्ष है। कौन चिकना? कौन मृदु? कौन कठोर? सारे सापेक्ष हैं। सारे यौगिक हैं। हमारी सारी बातें सापेक्ष होती हैं। जब हम "स्यात्" शब्द को अस्वीकार कर देते हैं, अपेक्षा को भुला देते हैं, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। बतलाया गया है कि देवताओं का आयुष्य करोड़ों-करोड़ों वर्षों का होता है। यह आश्चर्यकारी कथन लगता है। परन्तु कोई आश्चर्य नहीं है। हम सापेक्षता को न भूलें। जो अन्तरिक्ष गुरुत्तवाकर्षण से परे है, वहां काल की सीमा समाप्त हो जाती है। यहां का हजारों वर्षों का काल-माप वहां एक क्षण जैसा भी नहीं होता। जैनागमों में एक प्रंसग आता है। कोई व्यक्ति मरा। वह स्वर्ग में गया। उसने सोचा—'मैं फिर जाऊं मनुष्यलोक में और मेरे परिवार वालों से मिलूं।' मन में बात आई और उसने तैयारी शुरू की। सब देव बोले—कहां जा रहे हो? उसने कहा—मनुष्यलोक में जा रहा हं, अपने परिजनों से मिलने के लिए। वे बोले—अभी-अभी आए थे। दो मिनिट ठहरो। यहां की रंगरेलियां देखो। वह ठहर जाता है। उसे लगता है, क्षण भर हुआ है। वह वहां से चलकर मनुष्यलोक में आता है। मां, बाप, भाई, बहिन और मित्रों को खोजता है। पूछता है लोगों से। कोई कुछ भी नहीं बता सकते।

हजारों-लाखों वर्ष बीत चुके होते हैं। हजारों पीढ़ियां बीत चुकी होती है। उसे लगता है—क्षण भर बीता है। पर यहां के हजारों-लाखों वर्ष बीत जाते हैं।

अनेकानत के दो सूत्र

सत्य की खोज भूलभुलैया न बने। सत्य की खोज में चलने वाला असत्य के भूलभुलैये में न उलझ जाए। इन सारी समस्याओं से निपटने के लिए अनेकान्त ने दो महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए हैं, जिनका मैंने विस्तार से प्रतिपादन किया है। वे दो आधार सूत्र है—गौण और मुख्य। व्यक्ति एक मुख्य धर्म को जानता है, एक व्यक्त पर्याय को जानता है, जो पर्याय सामने है उसे जानता है, किन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि उसके पीछे अनन्त धर्म अभिव्यक्ति की टोह में प्रतीक्षारत रहते हैं। उस एक व्यक्ति पर्याय के साथ अनन्त अव्यक्त पर्याय छिपे रहते हैं।

अनेकान्त ने कहा—मुख्य का प्रतिपादन करो, पर निरपेक्षदृष्टि से मत करो। कथन के साथ "स्यात्" शब्द जोड़ दो। इससे यह स्पष्ट होगा कि प्रतिपादन मुख्य का हो रहा है। शेष सारे गौण हैं। किन्तु यदि हम मुख्य धर्म को ही पूर्ण सत्य मान लें तो भटक जाएंगे। सत्य की डोर हमारे हाथ से छूट जाएगी और तब वह आंशिक सत्य भी असत्य बन जाएगा। सत्य के लिए सापेक्षता को नहीं छोड़ा जा सकता, "स्यात्" शब्द को कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिन-जिन दार्शनिकों या विचारकों ने "स्यात्" शब्द का यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया और "स्यात्" शब्द की उपेक्षा की वे सब एकांगिता में चले गए। उनका प्रतिपादन एकांगी हो गया।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक कथन के पीछे अपेक्षा जुड़ी रहती है। वह कथन किसी एक दृष्टि से ही किया जाता है। यदि हम उस अपेक्षा को समझ सकें, यदि हम उस दृष्टि को पकड़ सकें तब हमारा प्रस्थान सत्य की दिशा में हो सकता है, अन्यथा नहीं। आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि हम "स्यात्" शब्द के हार्द को समझ कर उसका अधिकतम उपयोग करें।

रात्रि भोजन निषेध क्यों?

एक बार मेरे सामने यह प्रश्न आया कि जैन परम्परा ने रात्रि-भोजन को अस्वीकार क्यों किया? भलां, भूख के लिए भी कोई समय निर्धारित होता है? यथार्थता यह है कि जब भूख लगे तब खा लो। यह एक ही नियम पर्याप्त है। भूख के लिए क्या रात और क्या दिन? क्या प्रकाश और क्या अन्धकार ?

बैंगलोर में एक सम्मेलन हुआ। उसमें अनेक वैज्ञानिकों ने भाग लिया। वहां पर विषय प्रस्तुत हुआ कि जैन परम्परा में रात्रि-भोजन का निषेध किया है। उसके

कारणों की जानकारी करनी चाहिए। एक व्यक्ति उन कारणों का जानने के लिए मेरे पास आया। मैं उस समय दिल्ली में था। उसने प्रश्न उपस्थित किया। मैंने कहा—रात्रि-भोजन न करना धर्म से सम्बन्धित तो है ही, क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं उसका पाचन होता है तैजस शरीर के द्वारा। हमारे पाचन की शक्ति है तैजस। उसको अपना काम करने के लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब उसे सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है। पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं सकता। यह कारण वैज्ञानिक है।

दूसरा कारण है कि जब सूर्य का आतप होता है, तब कीटाणु बहुत निष्क्रिय होते हैं। जैसे ही सूर्य चला जाता है सब में प्राणशक्ति का संचार होता है और वे सब सक्रिय हो जाते हैं। वे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। बीमारी जितनी रात में सताती है, उतनी दिन में नहीं सताती। वायु का प्रकोप भी रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियां रात में इसीलिए सताती हैं कि रात में ताप नहीं होता। जब ताप होता है तब बीमारियां उग्र नहीं होती। जैसे ही सूर्य का ताप मिटता है, बीमारियों में शक्ति आ जाती हैं। कष्ट देने वाले सारे तत्त्व सक्रिय हो जाते हैं। रात में चोर ही नहीं सताते, ये कीटाणु भी सताते हैं। रात में नींद ही नहीं सताती, बीमारियां भी सताती है।

एक प्राचीन आचार्य ने रात्रि-भोजन के निषेध का एक कारण बतलाया जो वैज्ञानिक हो या न हो, मनोरंजक अवश्य है।

अकबर जैन आचार्य हीरविजयी को बहुत मानता था। उन्हें वह बहुत सम्मान देता था। कुछेक लोगों में ईर्ष्या जागी। एक व्यक्ति अकबर के पास पहुंचा और बोला—सम्राट्! आप जैन आचार्य को बहुत सम्मान देते हैं, किन्तु इनके विचार गलत हैं, मान्यताएं भ्रामक हैं। हम गंगा को पवित्र नदी मानते हैं, ये नहीं मानते। हम सूर्य को देवता मानते हैं, ये नहीं मानते। सम्राट् ने सुना। उसके मन में जिज्ञासा हुई। उसने हीरविजयी से पूछा—क्या आप गंगा को नहीं मानते? क्या आप सूरज को नहीं मानते? आपने कहा—किसने कहा नहीं मानते? हम तो गंगा और सूरज को बहुत मानते हैं। देखें, गंगा के प्रति हमारी श्रद्धा है। लोग जाते हैं। उसमें नहाते हैं। अपने शरीर का सारा मैल उसमें डालते हैं। हम दूर ही खड़े रहते हैं, उसके पानी को छूते तक नहीं। मैल डालने की बात तो दूर। सूरज को हम जितना मानते हैं, संसार में कोई उसको उतना नहीं मानता। जैसे प्रिय जन के बिछुड़ने पर आदमी

खाना-पीना छोड़ देता है, वैसे ही हम भी सूरज के बिछड़ने पर खाना-पीना छोड़ देते हैं। कितना प्रिय है हमें सूरज? सम्राट् को बात समझ में आ गई।

'स्यात्' है ऋजुमार्ग

प्रत्येक कथन आपेक्षिक होता है। निरपेक्ष कथन नहीं हो सकता। अनेकान्त हमें इस अपेक्षादृष्टि को पकड़ने का बोध देता है, हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। इससे राग-द्वेष कम होता है, पकड़ कमजोर होती है। "स्यात्" शब्द का प्रयोग एक ऐसा ऋजु मार्ग है जिसके सहारे हम विषम घाटियों को पार कर जाते हैं। यह एक ऐसा राजमार्ग है जिसके सहारे ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल बनाकर अपनी यात्रा सहज सम्पन्न कर सकते हैं। हम इस सापेक्षता के महान् सिद्धांत का सही मूल्यांकन करें और सत्य की महान् यात्रा में इसका अधिकतम प्रयोग करें।

प्रवचन ४

संकेतिका

१. एक भाई ने पूछा—क्रोध बहुत आता है। क्या यह आदत बदल सकती है?

बदल सकती है अगर तीसरी आंख खुल जाए। वह तीसरी आंख है समता की।

२. एक भाई ने पूछा—क्या पुनर्जन्म होता है?

उत्पाद और विनाश की आंख में देखोगे तो पता नहीं चलेगा।

तीसरी आंख है ध्रुवता की। यह खुल जाए तो पता चल जाएगा।

३. एक भाई ने पूछा—क्या समता या तटस्थता संभव है?

यह संभव है, यदि तीसरी आंख खुल जाए। तीसरी आंख है—सापेक्षता की, निश्चय और व्यवहार के समन्वय की।

४. क्या यौन परिवर्तन संभव है? क्या स्त्री का पुरुष होना और पुरुष का स्त्री होना संभव है?

संभव है, यदि तीसरी आंख खुल जाए। यह तीसरी आंख है—व्यक्त और अव्यक्त के समन्वय की।

तीसरा नेत्र (१)

दर्शन की यात्रा : अनेकान्त का संबल

आचार्य ने शिष्य को अनेकान्त का दर्शन पढ़ाकर कहा—"जाओ, अब दर्शन की यात्रा करो। सब दर्शनों को पढ़ो, सबल विचारों को पढ़ो और जो दर्शन और विचार मिथ्या लगे, उसकी तालिका बनाकर मेरे पास लाओ।"

शिष्य ने दर्शन की यात्रा प्रारम्भ की। जितने दर्शन थे सबको पढ़ा। दर्शन की यात्रा पूरी हुई। वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने पूछा—तुम्हारी दर्शन की यात्रा पूरी हो गई? शिष्य बोला—यात्रा को सम्पन्न कर आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूं। आचार्य ने कहा—लाओ, वह सूची। जो-जो दर्शन मिथ्या लगे, उनकी तालिका बताओ। शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मेरे हाथ खाली हैं।

- कोई पत्रा नहीं मिला?
- पत्रा मिला, पर वह खाली है। लिख नहीं सका।
- क्या कलम नहीं मिली?
- कलम तो मिली पर चली नहीं।
- क्या चाकू नहीं मिला?
- चाकू मिला, पर चला नहीं।
- क्या स्याही नहीं मिली?
- स्याही भी मिली, पर लिखने को कुछ था ही नहीं।
- क्या कोई दर्शन या विचार मिथ्या नहीं लगा?
- मुझे कोई दर्शन या विचार मिथ्या नहीं लगा, इसीलिए मैं उनकी तालिका नहीं बना सका।
- शिष्य! तुम जाओ। तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न हो चुका है। तुम उत्तीर्ण हो।

ठीक ऐसी ही अन्य घटना मैं देख रहा हूं कि तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य आत्रेय ने जीवक से कहा—जाओ, तक्षशिला के बाहर जंगल में जो औषधियां हों उनको देखो, किन्तु जो वनस्पति औषधि न हो वह मेरे पास ले आओ। आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य कर जीवक जंगल में गया। बहुत घूमा। अन्त में वह थक कर

चूर हो गया। उसे खाली हाथ लौटना पड़ा। वह आचाय क समक्ष उपस्थित हुआ। आचार्य ने पूछा—वत्स ! मेरे आदेश का पालन नहीं किया ? वह बोला—गुरुदेव ! सुबह से शाम तक जंगल में घूमता रहा। सारा जंगल मैंने छान डाला। परन्तु एक भी पौधा ऐसा नहीं मिला जो औषधि न हो। आचार्य बोले—वत्स ! तुम औषधि-विज्ञान में निष्णात हो गए। तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न है।

क्या कारण है कि एक भी पौधा ऐसा नहीं है जो औषधि के रूप में काम न आता हो ? एक भी विचार ऐसा न मिले जो गलत न हो। एक भी दृष्टि ऐसी नहीं मिलती जो मिथ्या हो। क्या यह कोई जादू का चमत्कार है ? क्या संसार में कोई मिथ्या या असत्य नहीं है ? यदि संसार में कुछ भी असत्य नहीं है तो सब कुछ सत्य है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर असत्य प्राप्त क्यों नहीं होता ?

अनेकान्त के अभ्यासी को कोई मिथ्या दृष्टि मिलती ही नहीं। सारी मिथ्या दृष्टियां एकान्तदर्शी के लिए संभव होती हैं। जिसने अनेकान्त को हृदयंगम कर लिया उसके लिए कोई भी दृष्टि मिथ्या नहीं होती। फिर प्रश्न होता है कि कौन-सा सम्यक् है और कौन-सा असम्यक् ? इस प्रश्न का उत्तर किसी साम्प्रदायिक व्यक्ति से लिया जाए तो वह कहेगा—मेरे शास्त्र सम्यक् हैं, तुम्हारे शास्त्र मिथ्या हैं, असम्यक् हैं। किन्तु जब अध्यात्म की दृष्टि से, अनेकान्त की दृष्टि से विचार किया गया तो उन्होंने कहा—शास्त्र कोई सम्यक् नहीं होता और शास्त्र कोई मिथ्या नहीं होता। सम्यग्-दृष्टि व्यक्ति के लिए सारे शास्त्र सम्यग् हैं और मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिए सारे शास्त्र मिथ्या हैं। शास्त्र का सम्यग् होना या मिथ्या होना हमारी दृष्टि पर निर्भर है। जब अनेकान्त की दृष्टि जाग जाती है तब सब कुछ सम्यग् हो जाता है, मिथ्या कुछ लगता ही नंहीं। जब तक हम इन दो आंखों से देखते हैं तब एक सत्य लगता है, एक असत्य लगता है। एक प्रिय होता है, एक अप्रिय होता है। एक स्वीकार्य होता है एक अस्वीकार्य होता है। किन्तु जब तीसरी आंख खुल जाती है, तब न प्रिय और न अप्रिय, केवल पदार्थ बचता है। जब तीसरी आंख खुल जाती है तब न कुछ नश्वर और न कुछ अनश्वर, न कुछ नित्य और न कुछ अनित्य रहता है, तीसरी जाति बन जाती है। यह तीसरी आंख है—अनेकान्त।

अनेकान्त का रहस्य : तीसरी आंख का खुल जाना

अनेकान्त के आचार्यों ने कहा—जगत् में कुछ भी सर्वथा नित्य भी नहीं है और सर्वथा अनित्य भी नहीं है। नित्य को देखने वाली आंख अलग होती और अनित्य को देखने वाली आंख अलग होती है। किन्तु तीसरी आंख वह है जो

सच्चाई को देखती है। उस तीसरी आंख के खुल जाने पर तीसरी जाति सामने आती है। वह न नित्य होती है और न अनित्य होती है, किन्तु वह नित्यानित्य होती है। एक आदमी समानता को देखता है। एक आदमी असमानता को देखता है। किन्तु तीसरी आंख खुल जाने पर न समानता और न असमानता, किन्तु सम-असम—तीसरी जाति बन जाती है। तीसरी जाति बन जाना या तीसरी आंख खुल जाना अनेकान्त का बहुत बड़ा रहस्य है। जब तक हम दो जातियों के बीच में रहेंगे तब तक हम सच्चाई को पकड़ नहीं पाएंगे और सत्य तथा मिथ्या का संघर्ष बराबर बना रहेगा। तीसरी आंख के खुल जाने पर तीसरी जाति का निर्माण करना होता है। यह जो निर्मित है, उसका दर्शन शुरू हो जाता है। अनेकान्त के आचार्य ने कहा—

"स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।"

सच्चाई है तीसरी जाति

तीसरी आंख के खुल जाने पर अस्तित्व सचाई नहीं होती, नास्तित्व सचाई नहीं होती, किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व का योग, यह तीसरी जाति सच्चाई होती है। पदार्थ को कोई वाच्य कहता है और कोई अवाच्य। कोई कहता है—यह कहा जा सकता है और कोई कहता है—यह नहीं कहा जा सकता। एक दार्शनिक-परम्परा वाच्य को लिए बैठी है और दूसरी अवाच्य के लिए बैठी है। सत्य सर्वथा अवाच्य है, अनिर्वचनीय है। सत्य को कहा नहीं जा सकता। उसका निर्वचन नहीं हो सकता। दूसरा कहता है—वह कैसा सत्य जो कहा नहीं जा सके? सत्य वाच्य होना चाहिए। एक आंख वाच्य को देखती है, दूसरी आंख अवाच्य को देखती है। तीसरी आंख जब खुलती है तब न कोई वाच्य होता है, न कोई अवाच्य होता है, किन्तु वाच्यावाच्य होता है। यही सच्चाई है।

अनेकान्त की तीसरी आंख खुले बिना हम दार्शनिक और व्यावहारिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकते। आज के विज्ञान ने अनेक प्रवृत्तियां चला रखी हैं। मनुष्य उनमें उलझा हुआ है। अनेकान्त के बिना हम उनका समाधान भी नहीं खोज सकते।

क्रोध : कारण और निवारण

एक भाई ने पूछा—क्या क्रोध की आदत बदली जा सकती है? मैंने कहा—संभव है। उसने पूछा—यह कैसे संभव हो सकता है? जो आदत बन गई वह कैसे बदली जा सकती है? यदि दृष्टिकोण शाश्वत का है तो आदमी सोचता है कि आत्मा का कुछ भी नहीं बदलता। यदि अशाश्वत का दृष्टिकोण है तो वह सोचता है कि सब कुछ बदल जाता है, शेष कुछ भी नहीं बचता। यदि तीसरी आंख खुल जाए तो

क्रोध की आदत बदल सकती है। तीसरी आंख न खुले तो क्रोध की आदत कभी नहीं बदल सकती।

क्रोध क्यों आता है? यह एक प्रश्न है। परिस्थितिवादी कहेगा कि क्रोध की उत्पत्ति का हेतु है परिस्थिति। समाज में ऐसे कारण है, ऐसी परिस्थितियां हैं कि क्रोध आए बिना नहीं रह सकता। यदि परिस्थितियों के कारण ही क्रोध आए तो फिर क्रोध की आदत को बदलने की बात प्राप्त नहीं होती। पहले परिस्थितियों को समाप्त करना होगा। उसके समाप्त हो जाने पर क्रोध नहीं आएगा। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। समाज में न कभी परिस्थितियां समाप्त होंगी और न कभी क्रोध समाप्त होगा। इस दुनिया में कभी परिस्थितियां समाप्त होने वाली नहीं हैं। परिस्थितियों को समाप्त करने का विचार मूर्खतापूर्ण विचार है। एक परिस्थिति समाप्त होगी तो दूसरी पांच परिस्थितियां उभर आएंगी। एक समस्या सुलझेगी और पांच उलझ जाएंगी। परिस्थितियों का अन्त नहीं किया जा सकता। समस्याओं को समूल नहीं मिटाया जा सकता।

एक आन्दोलन चला—अधिक अन्न उपजाओ। खेतों में रासायनिक खाद दो, अन्न की उपज अधिक होगी। यह क्रम प्रारम्भ हुआ। रासायनिक खाद से अन्न के तत्त्व समाप्त होने लगे। इससे अन्न में इतने विष घुल जाते हैं कि कभी-कभी उस अन्न को खाने वाले मर जाते हैं। एक ओर प्रयत्न चलता है कि आबादी न बढ़े। एक ओर प्रयत्न चलता है औषधियों का कि मनुष्य को बचाया जा सके। एक ओर प्रयत्न चलता है रासायनिक खाद का कि जिससे बिना सोचे समझे, बिना बवंडर खड़ा किए आबादी कम हो जाए। बहुत सस्ता उपाय है आबादी कम करने का। जहरीली औषधियां, जहरीला भोजन और परिवार नियोजन—तीनों में मुझे कोई अन्तर नहीं दीखता। तीनों में एक ही बात है। राजनीति के लोग बड़े चतुर होते हैं। वे कहते हैं—सीधा मारने का उपाय मत करो, ऐसा उपाय करो, ऐसी दवा दो कि जिससे लेने वाले को मिठास आए और अपना काम भी बन जाए। परिस्थितियों का अन्त कभी नहीं होगा तो क्रोध भी कभी समाप्त नहीं होगा। तीसरी आंख के खुलने पर ही यह संभव है।

तीसरी आंख है समता

तीसरी आंख है—समता की। हमारे दो आंखें हैं। हमारी दायीं आंख है प्रियता की और बाईं आंख है अप्रियता की।

पिता पुत्री के घर गया। वह अपने दामाद के साथ भोजन करने बैठा। उसकी कन्या भोजन परोसने आई। उसने दोनों की थाली में खिचड़ी परोसी। घी परोसने की बारी आई। उसने सोचा—पिताजी की थाली में घी परोसूं या नहीं। परोसूं तो कितना परोसूं। पति पास में बैठा है। यदि अधिक या कम परोस दिया तो घर में कलह हो जाएगी। पति कुपित हो जाएगा। उसने बाईं आंख से पति की ओर देखा। पिता ने देख लिया। उसने पुत्री से कहा—"बाबा से भी बाईं।"

बाईं आंख में कुछ विशेषता होती है।

जब प्रियता और अप्रियता की आंख बनी रहती है तब क्रोध समाप्त नहीं होता। क्रोध समाप्त होता है तीसरी आंख खुलने पर। तीसरी आंख है समता की आंख। पदार्थ के प्रति प्रियता का भाव नहीं, किन्तु पदार्थ के प्रति पदार्थ का भाव, यथार्थ का भाव, सच्चाई का भाव। यह है समता। पदार्थ केवल पदार्थ होता है। पदार्थ कोई भी प्रिय नहीं होता और पदार्थ कोई अप्रिय नहीं होता। देश-काल बदलने पर वही अप्रिय लगने लग जाता है। अनेकान्त की दृष्टि से देखा जाए तो कोई भी पदार्थ एकान्ततः प्रिय या अप्रिय नहीं होता। जैसे-जैसे अनेकान्त की दृष्टि विकसित होती है प्रियता और अप्रियता का भाव कम होता जाता है और पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखने वाली तीसरी आंख खुल जाती है।

साधना का महान् सूत्र—अनेकान्त

अनेकान्त कोई तत्वदर्शन नहीं है। वह हमारा समग्र जीवन-दर्शन है। वह साधना का महान् सूत्र है। जब तक राग और द्वेष कम नहीं होता, प्रियता और अप्रियता का भाव कम नहीं होता तब तक तीसरी आंख नहीं खुलती और अनेकान्त की दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। अनेकान्त को उपलब्ध करने के लिए राग और द्वेष को कम करने वाली साधना चाहिए। जैसे-जैसे राग कम होता है, प्रियता का संवेदन कम होता है, जैसे-जैसे द्वेष कम होता है, अप्रियता का संवेदन कम होता है, वैसे-वैसे अनेकान्त का विकास होता है, तीसरी आंख का विकास होता है। सारी दृष्टि बदल जाती है और तब पदार्थ केवल पदार्थ मात्र रह जाता है। वह न प्रिय रहता है और न अप्रिय। जब प्रिय और अप्रिय नहीं रहता तब क्रोध कैसे रहेगा? क्रोध केवल परिस्थिति से ही नहीं आता। व्यक्ति एक को प्रिय मानता है और दूसरे को अप्रिय, तब तक क्रोध समाप्त नहीं होगा। जैसे-जैसे प्रियता और अप्रियता का भाव कम होगा, जितना भी कम होगा, वैसे-वैसे क्रोध उतना ही कम होता जाएगा।

अनेकान्त है यथार्थ आंख

एक भाई ने पूछा—"क्या पुनर्जन्म होता है ? क्या मृत्यु के पश्चात् आत्मा दूसरा जन्म लेती है ? क्या यह संभव है ?" मैंने कहा—नाश और उत्पत्ति को जानते हो तो पुनर्जन्म संभव है। यदि एक आंख खुली है और उत्पन्न होने को देखते हो, दूसरी आंख खुली है और मरने को देखते हो, दो आंखों से ही देखते हो तो पुनर्जन्म संभव ही नहीं, फिर क्यों हम चर्चा में जाएं ? क्या प्रयोजन है चर्चा करने का ? एक दिन कोई प्राणी जन्मा और हमारी आंख के सामने आया। हमने एक आंख से उसका जन्मना देखा। जब वह मरा, दूसरी आंख से उसे देखा। दो आंखों से हमने जन्मना और मरना देखा। जब इन दो आंखों से देखेंगे, तब पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं होगा। यदि पुनर्जन्म के बारे में जानना है तो तीसरी आंख का विकास करना होगा। तीसरी आंख को खोजना होगा। अनेकान्त की दृष्टि का विकास करना होगा। अनेकान्त की आंख को खोलना होगा।

ध्रौव्य है तीसरी आंख

उत्पादन और विनाश—ये दो तत्त्व हैं। तीसरा तत्त्व है—ध्रौव्य। ध्रुव का अर्थ है—अमर। जिसका कभी विनाश नहीं होता वह ध्रुव होता है। वह कभी समाप्त नहीं होता। ध्रौव्य—यह तीसरी आंख है। इसको खोलना है। यह सच्चाई को देखने की आंख है। इसके खुलने पर पुनर्जन्म का प्रश्न सामने उपस्थित ही नहीं होता। आज का विज्ञान मानता है कि विश्व में जितने तत्व हैं, उतने ही रहेंगे। एक अणु भी नहीं बढ़ेगा और एक अणु भी कम नहीं होगा। केवल परिवर्तन या रूपान्तरण होता है। जैन दर्शन की मान्यता है—मूल तत्त्व जितने हैं उतने ही रहेंगे। न कोई नया पैदा होगा और न कोई पुराना सर्वथा नष्ट ही होगा। प्रश्न आत्मा के लिए ही क्यों ? क्या परमाणु समाप्त होता है ? आंखों से ओझल हो गया और समाप्त हो गया—ऐसा मानने से अजीब स्थिति पैदा हो जाती है। पानी पीया। वह आंखों से ओझल हो गया। क्या वह समाप्त हो गया ? यदि आंख से ओझल हो जाने का अर्थ ही समाप्त हो जाना है तो फिर आत्मा के लिए ही यह प्रश्न क्यों ? परमाणु के लिए या बादलों के लिए यह प्रश्न क्यों नहीं उठता ? कभी हम देखते हैं कि काले-कजरारे बादल आकाश में छा जाते हैं और कभी-कभी आकाश स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। कहां गए बादल ? क्या सारे बादल समाप्त हो गए ? इस स्थिति में प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक परमाणु समाप्त हो जाएगा। किन्तु जिसका अस्तित्व एक बार हमें ज्ञात हो गया, वह कभी समाप्त नहीं होगा। यह ध्रुवता की बात तब समझ

में आ सकती है जब तीसरी आंख खुल जाए। अनेकान्त की आंख खुलने पर समझ में आ जाता है कि पैदा होना भी तत्त्व नहीं है, मरना भी तत्त्व नहीं है। ये दोनों तब तत्त्व बनते हैं जब ध्रुव के साथ जुड़ते हैं। शाश्वत के साथ जुड़े बिना पूरी सच्चाई नहीं बनती। जब तक पूरा चित्र सामने न हो तो, हम सच्चाई की व्याख्या नहीं कर सकते। तीसरी आंख खुले, ध्रुवता की आंख खुले।

पुरुष पुरुष भी है, स्त्री भी है

एक भाई ने पूछा—लड़के लड़कियां बन जाते हैं और लड़कियां लड़के बन जाती हैं। यौन परिवर्तन होता है। क्या यह सच है? क्या ऐसा होना संभव है?

मैंने कहा—असंभव तो नहीं है। यदि हम इनको दो आंखो से देखें, तब तो बिल्कुल असंभव है। क्योंकि आज तक हमने अपनी आंखों से यही देखा है कि जो लड़का होता है, वह लड़के के रूप में ही मरता है और जो लड़की होती है, वह लड़की के रूप में ही मरती है। हमारी ये दो आंखें लड़के को लड़के के रूप में देखने से परिचित्त हैं और लड़की को लड़की के रूप में देखने से परिचित हैं। हमने अपनी आंखों से नहीं देखा कि लड़की लड़का बन गई और लड़का लड़की बन गया। इन दो आंखों से देखने पर यह यौन-परिवर्तन की बात मिथ्या है, असत्य है। वास्तविक सच्चाई को देखने के लिए तीसरी आंख अपेक्षित है। अनेकान्त की आंख अपेक्षित है। अनेकान्त की आंख से देखेंगे तो यह घटना संभव लगेगी। असंभव जैसा कुछ भी नहीं रहेगा।

कर्मशास्त्र के अनुसार वेद तीन हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। प्रत्येक स्त्री और पुरुष में ये तीनों वेद पाए जाते हैं। पुरुष पुरुष है और स्त्री स्त्री है। इनमें तीनों वेद कैसे पाए जाते हैं—यह प्रश्न होता है। पुरुष पुरुष है। यह व्यक्त पर्याय है। अव्यक्त पर्याय में वह पुरुष भी है और नपुंसक भी है। कोई भी पुरुष पूरा पुरुष नहीं होता। कोई भी स्त्री पूरी स्त्री नहीं होती। प्रत्येक पुरुष स्त्री भी होता है और नपुंसक भी होता है। प्रत्येक स्त्री पुरुष भी होती है और नपंसक भी होती है। व्यक्त पर्याय के आधार पर हम पुरुष को पुरुष, स्त्री को स्त्री और नपुंसक को नपुंसक कह देते हैं। परन्तु अव्यक्त पर्याय के आधार पर प्रत्येक तीनों हैं। पुरुष स्त्री भी है, नपुंसक भी है। स्त्री पुरुष भी है, नपुंसक भी है। नपुंसक पुरुष भी है, स्त्री भी है। व्यक्त पर्याय पुरुष का हो गया तो पुरुष बन गया। व्यक्त पर्याय स्त्री का हो गया तो स्त्री बन गई। पर न जाने उस व्यक्त पर्याय के साथ कितने पुरुष स्त्रियां होते हैं, कितनी स्त्रियां पुरुष होती हैं।

राजा की रानी बगीचे में बैठी थी। एक तोते ने उस पर विष्ठा कर दी। रानी क्षुब्ध हो गई। वह महलों में गई और कोपघर में जाकर सो गई। राजा आया। रानी को क्षुब्ध देखकर क्षोभ का कारण पूछा। रानी ने मूल कारण बताते हुए कहा—या तो आप सारे राज्य के तोतों को मरवा डालें या मैं आत्महत्या कर प्राण देदूंगी। राजा असमंजस में पड़ गया। एक ओर निरपराध हजारों तोतों की जिन्दगी का प्रश्न था और दूसरी ओर रानी के मर जाने की आंशका थी। राजा ने रानी को मनाना चाहा, पर सब व्यर्थ। उसने हजारो तोतों को मरवा डाला। तोतों के सरदार को यह पता लगा। वह राजा के समक्ष उपस्थित होकर मनुष्य की भाषा में बोला—राजन्! आप हमारे कुल का विनाश क्यों कर रहे हैं? आप रक्षक हैं, भक्षक क्यों बन रहे हैं? राजा मनुष्य की भाषा में बोलते हुए तोते को देखकर विस्मित हुआ। कुछ बातचीत हुई। अन्त में राजा ने पूछा—बोलो, संसार में पुरुष अधिक हैं या स्त्रियां? तोते ने कुछ क्षण मौन रहकर कहा—ऐसे तो पुरुष और स्त्रियां बराबर हैं, किन्तु जो पुरुष स्त्री की बात मानकर चलता है, वह भी स्त्री है। इस दृष्टि से स्त्रियां अधिक हैं। पुरुष कम।

न जाने पुरुष के वेष में कितनी स्त्रियां होती हैं और स्त्री के वेश में कितने पुरुष होते हैं। ऐसी भी घटनाएं घटती हैं कि एक ही जीवन में पुरुष स्त्री भी बन जाता और फिर नपुंसक भी हो जाता है। वह तीनों वेदों की व्यक्त पर्याय का उपभोग कर लेता है। यौन-परिवर्तन के अनेक उल्लेख प्राचीन जैन व्याख्या साहित्य में मिलते हैं। आज का विज्ञान भी इस यौन-परिवर्तन के सिद्धान्त को मान्यता दे चुका है। प्राचीन काल में भी यौन-परिवर्तन होता था, किया जाता था और आज भी वह होता है, किया जाता है।

अव्यक्त पर्याय का जगत्

अनेकान्त की दृष्टि से इस पर विचार करें। व्यक्त या स्थूल पर्याय के आधार पर जो बोध होता है, वह पूर्ण नहीं होता। व्यक्त पर्याय का जगत् बहुत छोटा है। अव्यक्त पर्याय का जगत् बहुत बड़ा। स्थूल पर्याय थोड़े हैं, सूक्ष्म पर्याय अधिक हैं। जब तक सूक्ष्म या अव्यक्त पर्याय के जगत् में पादन्यास नहीं करते तब तक निर्णय एकांगी होते हैं, एकान्तदृष्टि के निर्णय होते हैं। अनेकान्त की दृष्टि से वे सारे निर्णय मिथ्या माने जाते हैं। अनेकान्त का अर्थ केवल नियमों की व्याख्या करना ही नहीं है। वह सूक्ष्म पर्यायों की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। अनेकान्त के अनेक पाठी भी स्थूल जगत् के नियमों पर अनेकान्त को घटित करते हैं। इससे अनेकान्त की सीमा छोटी हो जाती है। वह सीमित दायरे में बंदी हो जाता है। अनेकान्त की सीमा

बहुत विशाल है। वह कहता है—स्थूल जगत् के नियमों के आधार पर सत्य की व्याख्या मत करो, केवल व्यवहार नय के आधार पर सत्य की व्याख्या मत करो। सत्य की व्याख्या का सबसे बड़ा द्वार है सूक्ष्म पर्याय का जगत्, निश्चय नय का जगत्। जब तक निश्चय और व्यवहार—दोनों का समन्वय नहीं होता तब तक तीसरी आंख नहीं खुलती। तीसरी आंख के खुल जाने का अर्थ है—निश्चय और व्यवहार का एक साथ हो जाना। तीसरी आंख के खुल जाने का अर्थ है—सूक्ष्म और स्थूल पर्याय—दोनों की ओर हमारी दृष्टि का विकास होना। जब नए तथ्य हमारे समक्ष आते हैं तब हम विस्मित हो जाते हैं। विस्मय का कोई कारण नहीं है। जो व्यक्ति निश्चय नय को जानता है, सूक्ष्म पर्यायों के रहस्य को जानता है, उसके लिए कुछ भी आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य हमारी नासमझी के कारण होता है। मताग्रह हमारी नासमझी का परिणाम है। साम्प्रदायिक खींचतान, उन्माद—यह सब मूढ़ता के कारण होता है। आदमी एक बात को पकड़ लेता है और उसके प्रति मूढ़ हो जाता है। दूसरी बात सामने आती है तब वह उन्मत्त हो जाता है, कुपित हो जाता है।

एक दिन एक राजनेता अपने सचिव पर उबल पड़ा। उसने कहा—"मैंने तुम्हें पन्द्रह मिनट का भाषण तैयार करने के लिए कहा था, और तुमने एक घण्टे का भाषण तैयार कर मुझे दे डाला। मैं उसे सुनाते-सुनाते थक गया। श्रोताओं ने टोका। मेरा अपमान किया। तुमने ध्यान नहीं दिया। तुम सचिव रहने योग्य नहीं हो।"

सचिव ने कहा—'महाशय! मेरी भी सुनें। मैंने केवल पन्द्रह मिनट का ही भाषण तैयार किया था। उसकी चार प्रतियां की गई थीं। आप चारों साथ ले गए और एक के बाद एक पढ़ते ही गए.'

आदमी मताग्रह में इतना उलझ जाता है कि उसे पता ही नहीं होता कि वह क्या कहे जा रहा है। बड़ी कठिनाई होती है उस समय। यह मताग्रह इसीलिए होता है कि व्यक्ति सूक्ष्म जगत् पर पर्दा डालकर बैठ जाता है। वह सूक्ष्म जगत् को सर्वथा अस्वीकार कर देता है। वह सामने व्यक्त होने वाले थोड़े से स्थूल पर्यायों को स्वीकार कर, स्थूल नियमों को स्वीकृति देकर सत्य की हत्या कर देता है।

विज्ञान धर्म का उपकारी

सामान्य लोग स्वर में स्वर मिला कर कह देते हैं—विज्ञान ने धर्म की हत्या कर डाली। मैं कहता हूं—विज्ञान ने धर्म का जितना उपकार किया है उतना संभवतः किसी ने नहीं किया। यदि आज विज्ञान सूक्ष्म पर्यायों की खोज में नहीं जाता, सूक्ष्म सत्यों की घोषणाएं नहीं करता तो ये विभिन्न दार्शनिक और अधिक उग्र हो जाते और अधिक संघर्ष करने लग जाते। दार्शनिकों की तीसरी आंख खुली नहीं है

इसलिए वे परस्पर वाद-विवाद करते हैं, लड़ते हैं। वे दो आंखों से देखते हैं।

अनेकान्त की आंख, समता या तटस्थता की आंख खुली नहीं है, इसका कारण है कि दार्शनिक खोज से उपरत हो गए हैं। वे प्रयोग की प्रक्रिया को भूल बैठे हैं। आज का वैज्ञानिक प्रतिदिन नए-नए आविष्कार करता चला जा रहा है। वह प्रयोग में संलग्न है। विज्ञान ने हमारे समक्ष अनेक सूक्ष्म सत्य प्रस्तुत किए हैं। उसने अनेक अव्यक्त पर्यायों को व्यक्त किया है। कुछ वर्ष पूर्व तक जो तथ्य अंधविश्वास की कोटि में आते थे, वे आज सत्य की कोटि में आ गए हैं।

संख्या की परम कोटि—शीर्षप्रहेलिका

जैन आगमों में गणना की परम कोटि का उल्लेख है। उसकी संज्ञा है—शीर्षप्रहेलिका। उसके समक्ष आज की संख्या बहुत छोटी होती है। एक अंक पर दो सौ चालीस शून्य लगाने से वह संख्या बनती है। यह उत्कृष्ट संख्या है। जब विज्ञान ने सूक्ष्म गणित की बातें प्रस्तुत कीं, तब शीर्षप्रहेलिका की सत्यता स्वयं प्रस्थापित हो गई और उसे बहुत महत्त्वपूर्ण खोज माना गया।

ध्वनि-विज्ञान की महान् उपलब्धि

जैन साहित्य में उल्लेख है कि एक घंटा है अवस्थित। वह एक स्थान पर बजता है। उसकी ध्वनि से प्रकंपित होकर दूर-दूर हजारों-लाखों घंटे बज उठते हैं। असंख्य योजन तक यह घटना घटित होती है। लोगों ने इस उल्लेख को कपोल-कल्पित बताया। किन्तु जब विज्ञान ने ध्वनि-तरंगों की द्रुतगामिता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तब यह सत्य भी प्रमाणित हो गया। आज यह ध्वनि-विज्ञान की महानतम उपलब्धि माना जाता है।

जब तक व्यक्ति सूक्ष्म पर्यायों की ओर प्रस्थान नहीं करता, तब तक सच्चाई को नहीं पा सकता। जब तक अनेकान्त की दृष्टि का विकास नहीं होता, तब तक उस दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता।

साधना में अनेकान्त-दृष्टि

साधना के क्षेत्र में भी तीसरी आंख खुले बिना कोई विकास नहीं हो सकता। तीसरी आंख तब खुलती है जब मन में जमा हुआ सारा मैल धुल जाता है, जब मन पर जमा कूड़ा-करकट साफ हो जाता है, तब मन दर्पण-सा निर्मल हो जाता है।

एक भाई आकर बोला—महाराज ! मेरी स्थिति विचित्र है। जब कभी मैं ध्यान या उपासना करने बैठता हूं, तब विकल्पों का तांता-सा लग जाता है। कभी न आने वाले विचार आते हैं, मन के संस्कार उभरते हैं तो मैं सोचता हूं कि यदि ध्यान नहीं

करता, सामायिक या अन्य धार्मिक उपासनाएं नहीं करता तब मन में कोई विकल्प नहीं आता, मन शांत रहता है मैं ध्यान को छोड़ देता हूं।

मैने कहा—मन के भीतर बहुत कूड़ा-करकट भरा पड़ा है। उसमें अनेक स्मृतियां और संस्कार हैं। जब हम मन को एकाग्र करते हैं तब उन संस्कारों के साथ छेड़छाड़ होती है। मन कुरेदा जाता है, तब वे संस्कार उभरते हैं, स्मृतियां जागती हैं। जो गंदगी दबी पड़ी थी, वह ऊपर आती है और निकल जाती है। उस गंदगी का निकलना श्रेयस्कर है। यह विकास का मार्ग है।

साधना में अनेकान्त-दृष्टि चाहिए। अनेकान्त की दृष्टि से देखने पर सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं। एक बात को पकड़ने पर कठिनाइयां पैदा होती हैं।

कुंडलिनी का जागरण

आज सारे संसार में कुंडलिनी की बहुत चर्चा है। कुंडलिनी को जगाना योग का पर्याय बन गया है। समूचे योग जगत् में इसकी चर्चाएं हो रही हैं। कुंडलिनी-जागरण का एक बवंडर खड़ा कर दिया गया है। मैं पूछता हूं कि कौन ऐसा आदमी है जिसकी कुंडलिनी जागी हुई नहीं है? प्रत्येक आदमी की कुंडलिनी जागी हुई है। आदमी योग की साधना करे या न करे, आदमी की कुंडलिनी जागी रहती है। शरीर में भोजन का पाचन होता है। किसके द्वारा होता है? भोजन का पाचन कुंडलिनी के द्वारा होता है। शरीर में गर्मी है। इसका कारण क्या है? कुंडलिनी ही इसका कारण है। कुंडलिनी है हमारे तैजस शरीर की शक्ति। यह है तेज की शक्ति, दीप्ति की शक्ति, प्रकाश की शक्ति। यह सारे शरीर का ताप है, गर्मी है। तैजस शरीर की गर्मी कुंडलिनी है। यह जागी हुई रहती है। यह और अधिक जाग सकती है। इसके जागरण के अनेक मार्ग हैं, एक ही मार्ग नहीं है। यह आसन करने, ध्यान या प्राणायाम करने से जाग सकती है। उपवास के द्वारा, तपस्या के द्वारा भी यह जाग सकती है। विनम्रता, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग के द्वारा भी यह जाग सकती है। इसके जागरण का एक ही साधन नहीं है।

अनेक व्यक्ति : अनेक उपाय

किसी व्यक्ति के ध्यान अनुकूल नहीं होता। किसी के आसन और प्राणायाम अनुकूल नहीं होता। क्योंकि सबके शरीर की रचना भिन्न-भिन्न होती है। मन का वेग भी समान नहीं होता। कुछेक व्यक्तियों के मन का वेग इतना तीव्र होता है कि वे ध्यान में नहीं जा सकते। इस स्थिति में हम अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग करें। सब साधकों को अलग-अलग दृष्टि से तोलें, समझें। जो सीधे ध्यान में न जा सकें,

उन्हें जप का प्रयोग करवाएं। प्राण-संयम का प्रयोग करवाएं। नाद का प्रयोग करवांए। जो व्यक्ति भ्रामरी प्राणायाम का सहारा लेता है वह धीरे-धीरे अपने ध्यान में चला जाता है। एक आसन में बैठकर साधक पांच-दस-पन्द्रह मिनट तक भ्रमर की तरह गुंजार करता रहे, धीरे-धीरे वह ध्यान की स्थिति में चला जाएगा।

सबके लिए एक ही उपाय कारगर नहीं होता। एक बात को पकड़कर नहीं बैठा जा सकता। सारा मताग्रह, सत्य के प्रति दुराग्रह—यह सब एकांगी-दृष्टि का परिणाम है।

महान् आचार्य भिक्षु ने एक मार्मिक पंक्ति लिखी—"बाप तलाई जाणने, खावे गार गिंवार।"

मताग्रह से विरति है—अनेकान्त

एक आदमी पानी पी रहा था। तलाई में पानी कम और कीचड़ अधिक था। पानी के साथ कीचड़ आ रहा था, मिट्टी आ रही थी। वह उसे पीए जा रहा था। एक समझदार आदमी ने कहा—थोड़ी दूर पर एक तालाब है। पानी से भरा है। वहां जाओ और निर्मल पानी पीकर प्यास बुझाओ। यह कीचड़ क्यों पी रहे हो? उसने कहा—यह तलाई मेरे बाप की है। पानी पीऊंगा तो इसी तलाई का, अन्यथा प्यासा रह जाऊंगा।

यह मताग्रह है। यह इसलिए होता है कि आदमी की तीसरी आंख, सत्य को देखने की आंख खुली नहीं है।

आज के युग की यह बहुत बड़ी अपेक्षा है कि व्यक्ति की तीसरी आंख खुले। वह तीसरी आंख है—अनेकान्त।

प्रवचन ५

संकेतिका

१. अनेकान्त तीसरा नेत्र है, इसलिए कि वह निश्चय की आंख से देखता है।
२. वस्तु-सत्य की दृष्टि से तीसरा नेत्र है—ध्रौव्य।
३. आचार की दृष्टि से तीसरा नेत्र है—समता।
४. वैचारिक दृष्टि से तीसरा नेत्र है—तटस्थता।
   विचार के प्रति राग—मताग्रह।
   विचार के प्रति द्वेष—मताग्रह।
   विचार के प्रति समता—तटस्थता, अनाग्रह।
५. निश्चय.....ध्रौव्य—सूक्ष्म।
   व्यवहार.....उत्पाद, व्यय—स्थूल।
   दोनों के प्रति सम .....मध्यस्थ।
   अनेकान्त का आधार—निश्चय और व्यवहार।
६.

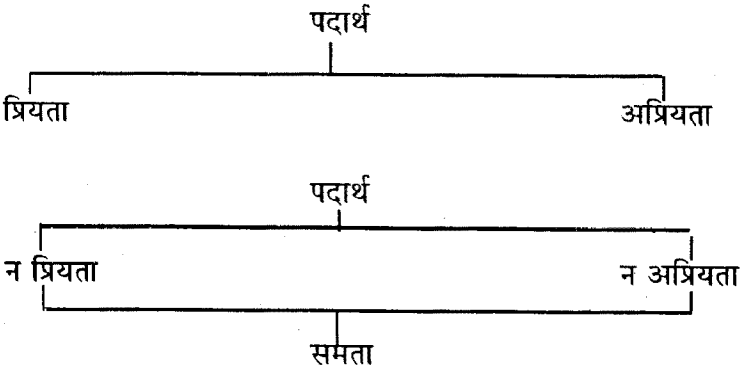

तीसरा नेत्र (२)

तीसरे नेत्र का स्थान

एक भाई ने कहा—तीसरा नेत्र हमारी भृकुटियों के मध्य में है। जिस नेत्र के द्वारा शिव ने काम दहन किया था, वह है, तीसरा नेत्र। योग की भाषा में तीसरा नेत्र है आज्ञा-चक्र। फिर आप कैसे कहते हैं कि तीसरा नेत्र है—अनेकान्त?

प्रश्न ठीक है। योग में आज्ञाचक्र को तीसरा नेत्र कहा गया है। उसका विकास होने पर काम का दहन भी हो सकता है। शिव ने काम का दहन किया। इसे पौराणिक आख्यान मान लें या योग-साधना का एक रूपक मान लें, किन्तु है यह सच्चाई। जब हम शरीर-शास्त्र, मानस-शास्त्र और काम-शास्त्र की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह सचाई अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भी अनेकान्त का सहारा अपेक्षित होता है। किसी भी सचाई पर विचार करते समय यदि एक ही दृष्टि से विचार करते हैं तो वह सचाई भी झूठ में बदल जाती है। सच्चाई तभी हो सकती है जब हम उसके अनेक पहलुओं पर अनेक दृष्टियों से विचार करें। अनेकान्त तीसरा नेत्र इसलिए है कि वह इन दो नेत्रों से भिन्न है। इन दो नेत्रों से हम स्थूल जगत् को देखते हैं। यदि स्थूल जगत् के आधार पर हमारा सारा व्यवहार होता तो सारा काम व्यवहार नय से चल जाता, स्थूल पर्याय को ग्रहण करने वाली दृष्टि से चल जाता। हमारा जगत् केवल स्थूल ही नहीं है, केवल दृश्य ही नहीं है। हमारा जगत् सूक्ष्म भी है, अदृश्य भी है, अमूर्त्त भी है। हमारे जीवन की प्रत्येक घटना की व्याख्या यदि हम स्थूल दृष्टि के आधार पर, दृश्य प्रक्रिया के आधार पर करें तो पूरी सच्चाई हस्तगत नहीं होती। अधूरी सच्चाई से समस्या का समाधान नहीं होता। पूरी सच्चाई को पकड़ने के लिए, समस्या का समग्र समाधान करने के लिए हमें दोनों जगत्—स्थूल पर्यायों के जगत् और सूक्ष्म पर्यायों के जगत् में प्रवेश करना होगा। यही है अनेकान्त का मूल आधार।

द्रव्य और पर्याय

कुछ दार्शनिकों ने केवल व्यवहार नय के आधार पर वस्तु-सत्य की मीमांसा की। कुछ दार्शनिकों ने निश्चय नय के आधार पर वस्तु-सत्य की मीमांसा की। इस

प्रकार की दो धाराएं बन गईं। एक द्रव्यार्थिक नय की धारा और दूसरी पर्यायर्थिक नय की धारा। एक द्रव्य को स्वीकार करने वाली धारा और दूसरी पर्याय को स्वीकार करने वाली धारा। एक तरंगों की व्यवस्था करने वाली धारा और दूसरी तरंगों के नीचे छिपे हुए अतल सागर की व्याख्या करने वाली धारा। दोनों को बांटा नहीं जा सकता। सामने तरंगों का जाल दीखता है। जब सागर में उत्ताल तरंगें होती हैं, वे ही आंखों के सामने आती हैं। समुद्र नीचे छिपा रह जाता है। जिन्होंने केवल सागर को देखा, उन्होंने पर्यायों की व्याख्या की, परिणमनों की व्याख्या की कि सारा संसार बदल रहा है, पैदा हो रहा है। जिन लोगों ने देखा कि यह परिवर्तन सच्चाई नहीं है, सच्चाई तो वह है जो परिवर्तन के नीचे है। उन्होंने मूल द्रव्य को पकड़ा और उसकी व्याख्या की। उन्होंने तरंगों को असत्य मान लिया, मिथ्या मान लिया। तरंगें छूट गईं। दोनों दृष्टियां बंट गई, एकांगी बन गई। पूरा सत्य हाथ नहीं लगा।

अनेकान्त तीसरा नेत्र क्यों?

अनेकान्त तीसरा नेत्र इसलिए है कि वह न कोरे द्रव्य की व्याख्या करता है और न कोरे पर्याय की व्याख्या करता है। वह दृष्टि न कोरे द्रव्य को ग्रहण करने वाली दृष्टि है और न केवल पर्याय को ग्रहण करने वाली दृष्टि है। वह उभयात्मक दृष्टि है। न वह द्रव्यात्मक है और न पर्यायात्मक, पर है उभयात्मक। यह तीसरी दृष्टि है, इसलिए अनेकान्त तीसरा नेत्र है।

तीसरे नेत्र से काम-दहन

हमारे शरीर में जो तीसरा नेत्र है, इस पर भी अनेकान्त की दृष्टि से विचार करना होगा। कुछ लोग काम-वासना को परिस्थिति से होने वाली घटना मानते हैं। सामने परिस्थिति होती है, विरोधी लिंग होता है—पुरुष के सामने स्त्री और स्त्री के सामने पुरुष—तब काम की वासना जागती है, काम का प्रवर्तन होता है। यह भी पूरी सच्चाई नहीं है। जब तक हम अनेकान्त-दृष्टि से इस पर विचार न करें तब तक यह बात भी समझ में नहीं आ सकेगी।

आज शरीर-शास्त्रियों और यौन-शास्त्रियों ने इस पहलू पर बहुत गहरा चिंतन किया है। इस पर अनेक प्रयोग लिए हैं। उन्होंने जो परीक्षण कर तथ्य प्रस्तुत किए हैं वे उस घटना की सच्चाई को प्रमाणित करते हैं कि शिव ने तीसरे नेत्र के द्वारा काम का दहन किया था।

काम-वासना को उत्पत्ति का क्रम

हमारे शरीर में दो मुख्य तंत्र हैं— नाड़ी-संस्थान और ग्रन्थि-संस्थान। ग्रन्थि-संस्थान

में चार ग्रन्थियां बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—पिनियल, पिच्यूटरी, थायराइड और एड्रीनल। वैसे सभी ग्रन्थियां महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इन चारों का विशेष महत्त्व हैं। इन चारों में भी पिच्यूटरी का स्थान विशिष्ट है। उसे मेडिकल साइन्स में "मास्टर ग्लैण्ड" कहा जाता है। हमारी प्रवृत्तियों पर यह बहुत प्रभाव डालती है। शरीर-शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर कहना होगा कि काम-वासना स्त्री या पुरुष को देखने से नहीं जागती, किन्तु पिनियल और पिच्यूटरी ग्रंथि से स्राव जब नीचे गौनाड्स पर जाते हैं तब काम-वासना जागती है। पिच्यूटरी से "गौनाडोट्रोफिंग" नाम का स्राव होता है और वह गोनाड्स में पहुंचकर कामग्रन्थि को प्रभावित करता है। यह पूरा तथ्य नहीं है। इसको जान लेने मात्र से भी समस्या का समाधान नहीं होता। केवल शरीर-शास्त्रीय दृष्टि ही पर्याप्त नहीं है। हमें इससे भी आगे जाना होगा। हमें निश्चय नय की दृष्टि से सोचना होगा। शरीर-शास्त्रीय तथ्य व्यवहार के तथ्य हैं, स्थूल पर्याय का स्पर्श करने वाले तथ्य हैं। आगे चलकर हम कर्म-शास्त्र की परिधि में प्रवेश करते हैं। कर्म-शास्त्री कहता है—मोहनीय कर्म के उदय से काम-वासना जागती है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद—ये मोहनीय कर्म की प्रकृतियां हैं। ये जब जागृत होती हैं, विपाक में आती हैं तब काम की भावना जागृत होती है। इससे भी आगे चलना होता है। अध्यात्म जगत् में काम करने वाला मानसशास्त्री या मनोवैज्ञानिक कहेगा—हमारा भाव-संस्थान सक्रिय होता है तब काम-वासना उभरती है।

ये सब एकांगी कथन हैं। ये पूर्ण सत्य तक नहीं पहुंचाते। हम जब इनका योग करते हैं, तब सत्य को हस्तगत कर लेते हैं। चार बातें हैं। एक है—भाव-संस्थान। दूसरा है—कर्म-विपाक। तीसरा है—ग्रन्थि-स्राव और चौथा है—बाह्य-निमित्त—स्त्री और पुरुष का योग। जब ये चार बातें समवेत होती हैं तब काम-वासना जागृत होती है। इस प्रश्न को अनेकान्त के बिना नहीं समझा जा सकता। इस समस्या को अनेकान्त के बिना नहीं सुलझाया जा सकता।

जब हमारा भाव-संस्थान सक्रिय होता है तब वह हमारे मस्तिष्क के एक भाग को प्रभावित करता है। यह भाग है—हाइपोथेलेमस। जब वह भाग प्रभावित होता है तब पिच्यूटरी ग्रन्थि प्रभावित होती है। हाइपोथेलेमस का एक स्राव है—पेम्पाटाइन। इस रसायन के द्वारा पिच्यूटरी ग्रन्थि प्रभावित होती है। जैसे ही भाव-संस्थान में काम का विचार आता है, क्रोध या भय का विचार आता है, वह पिच्यूटरी को प्रभावित करता है। जितने मानसिक तनाव या दबाव आते हैं वे सारे हाइपोथेलेमस में आते हैं। वह तनावों का भण्डार है। जब मस्तिष्क का यह भाग तनावग्रस्त होता है तब पिच्यूटरी प्रभावित होती है। पिच्यूटरी, थायराइड और गोनाड्स को प्रभावित करती

है। इस प्रकार एक पूरी श्रृंखला है हमारे मानसिक तनावों की। जब काम की वृत्ति होती है तब पिच्यूटरी गोनाड्स को, कामग्रन्थि को प्रभावित करती है। जब क्रोध, भय आदि की प्रवृत्ति होती है, तब पिच्यूटरी एड्रीनल ग्रन्थि को प्रभावित करती है। इस प्रकार एक चक्र है पूरा—

- भाव-संस्थान की सक्रियता मस्तिष्क को प्रभावित करती है।
- मस्तिष्क पिच्यूटरी को प्रभावित करता है।
- पिच्यूटरी थायराइड, एड्रीनल और गोनाड्स को प्रभावित करती है।

यह चक्र जब पूरा होता है तब अहंकार, भय, काम आदि की प्रवृत्ति होती है।

पुरानी भाषा में जिसे आज्ञाचक्र कहा गया है वह आज के शरीर-शास्त्रीय भाषा में पिनियल और पिच्यूटरी कहा जा सकता है। इन दोनों ग्रंथियों का स्थान आज्ञाचक्र की सीमा में आता है। आज्ञाचक्र का स्थान भृकुटि बताया जाता है, पर यह पूरा सत्य नहीं है। भृकुटि पर जब हम अंगूठे के बीच का भाग रखते हैं और अंगूठे का अगला भाग जहां टिकता है, वह है आज्ञाचक्र का स्थान। तिलक का पूरा स्थान आज्ञाचक्र का स्थान है। इस सीमा में पिच्यूटरी और पिनियल—ये दोनों ग्रंथियां आ जाती हैं। दोनों का गहरा सम्बन्ध जुड़ जाता है। पिनियल बहुत ही रहस्यपूर्ण ग्रंथि है। प्रारम्भ में यह ग्रन्थि यौन को प्रभावित करने वाली होती है किन्तु बाद में पिनियल ग्रंथि अपना काम पिच्यूटरी पर डाल देती है और स्वयं उससे हट जाती है। पिच्यूटरी यह दायित्व संभाल लेती है।

काम-विजय कैसे?

कोई आदमी ब्रह्मचारी होना चाहे, केवल प्रजनन-संस्थान पर नियंत्रण करना चाहे तो यह कभी संभव नहीं होगा। नाभि से नीचे का जो स्थान है वह नियंत्रण का स्थान नहीं है। यदि सारा ध्यान प्रजनन-संस्थान के नियन्त्रण पर ही दिया जाएगा तो सफलता नहीं मिल सकेगी। ब्रह्मचर्य की सफलता के लिए ध्यान केन्द्रित करना होता है कंठ के ऊपरी भाग पर। थायराइड, पिच्यूटरी और पिनियल की सीमा तथा हाइपोथेलेमस—इन चारों का ध्यान केन्द्रित करना होता है। जो व्यक्ति क्रोध, भय और काम-वासना आदि आवेशों पर नियंत्रण करना चाहे, उसे शरीर के ऊपरी भाग पर नियंत्रण करना होगा। नीचे के भाग पर नियंत्रण करने से आवेश नहीं मिटते।

शिव ने तीसरे नेत्र द्वारा काम पर नियंत्रण किया—इस तथ्य का सरल समाधान मिल जाता है। जो व्यक्ति ध्यान के द्वारा आज्ञाचक्र को, दर्शनकेन्द्र को सक्रिय कर लेते हैं, पिच्यूटरी और पिनियल को सक्रिय कर देते हैं, वे कामभावना पर विजय पा

लेते हैं। इनके सक्रिय होने पर स्राव बदल जाते हैं। ध्यान, एकाग्रता, निर्मलचित्त और संकल्प के द्वारा स्राव नियन्त्रित होता है। वह नीचे नहीं जाता। जब वह स्राव नीचे नहीं जाता तब "काम" का दहन अपने आप हो जाता है। यह काम-दहन की बात या तीसरे नेत्र की बात अनेकान्त के बिना समझ में नहीं आ सकती।

साधना का अनेकान्त

परिस्थिति ही सब कुछ नहीं है। उस पर भार डाल देना उचित नहीं है। परिस्थिति को मिटाया जा सकता है। वह मिट जाएगी, किन्तु भीतर जो भाव-संस्थान है वह कैसे मिटेगा।

भगवान् महावीर से पूछा—भंते ! कुछ लोग कहते हैं कि साधना गांव में नहीं हो सकती। वह जंगल में, एकान्त में ही हो सकती है। क्या साधना क्षेत्र-प्रतिबद्ध है ?

महावीर ने कहा—"वत्स ! साधना गांव में भी हो सकती है, जंगल में भी हो सकती है। साधना गांव में भी नहीं हो सकती, जंगल में भी नहीं हो सकती।"

यह है साधना का अनेकान्त।

इसी सूत्र को एक आचार्य ने इस भाषा में गूंथा—

"रागद्वैषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?
रागद्वैषौ अनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?"

—यदि तुमने राग और द्वेष को जीत लिया तो जंगल में जाकर क्या करोगे ? यदि तुमने राग और द्वेष को नहीं जीता है तो जंगल में जाकर क्या करोगे ?

मूल बात है कि हम अनेकान्त की दृष्टि से सारी समस्याओं पर विचार करें। समस्या चाहे व्यवहार की हो या अध्यात्म की, समाज की हो या राजनीति की, ये सारी समस्याएं अनेकान्त के आधार पर सुलझाई जा सकती हैं। एकान्त दृष्टि से समस्याएं सुलझती नहीं, उलझती हैं। व्यक्ति में एक भ्रम पैदा हो जाता है, वह सोचता है—समस्याओं का कर्त्ता मैं नहीं हूं। मैं तो समस्याओं से बचता हूं। समस्या किसी दूसरे द्वारा कृत है। यह बड़ा भ्रम पैदा हो जाता है।

पति ने पत्नी से कहा—नीचे से आवाज आ रही है। लगता है, मित्र मुझे बुला रहा है। तुम नीचे जाकर कह दो कि मैं घर नहीं हूं। पत्नी बोली—आप तो कभी झूठ नहीं बोलते। आज मेरा विश्वास खण्डित हो गया। पति बोला—मैं झूठ नहीं बोलता इसीलिए तो तुमसे कह रहा हूं, अन्यथा मैं स्वयं जाकर कह देता।

जहां दृष्टि एकांगी होती है, जहां पूरा चित्र सामने नहीं आता, वहां आदमी उलझ

जाता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि वह क्या कर रहा है। वह अपनी ही भाषा में स्वयं उलझ जाता है।

हम अनेकान्त की दृष्टि को समझें। अनेकान्त तीसरा नेत्र है। यह भृकुटि के मध्य में स्थित तीसरे नेत्र से भी बड़ा नेत्र है। जब तक यह नेत्र सक्रिय नहीं होता, जब तक अनेकान्त की दृष्टि नहीं जागती तब तक कुछ भी सम्यक् नहीं हो सकता। हमारी चेतना का व्यवहार सम्यक् नहीं हो सकता।

तीन दृष्टियां

दृष्टियां तीन हैं—सम्यक् दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि भी हमें प्रभावित करती है और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि भी हमें प्रभावित करती है। इन दोनों से हम सच्चाई को पकड़ नहीं सकते। जब हम इन दोनों में हटकर तीसरी भूमिका—सम्यक् दृष्टि की भूमिका में जाते हैं तब अनेकान्त की चेतना का उदय होता है। इसका भी शरीरशास्त्रीय कारण है। हमारे मस्तिष्क में हाइपोथेलेमस के दो प्रकार के विशेष हारमोन्स होते हैं—एक है मेलाटोनिन और दूसरा सेराटोनिन। ये रसायन हमारे चरित्र को प्रभावित करते हैं। ये हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। कर्म-शास्त्र की भाषा में मोहनीय कर्म हमारी चेतना को प्रभावित करता है, मूर्च्छित करता है। यदि ये मूर्च्छा के परमाणु न हों तो हमारी चेतना विकारग्रस्त नहीं हो सकती। हमारी चेतना अनन्त, अनन्त और असीम है, विराट् है। उसमें देश और काल की सीमा नहीं हो सकती। हम अबाधगति से पूरी सच्चाई को जान सकते हैं, किन्तु ये दो रसायन हमारे चरित्र को बहुत प्रभावित करते हैं। मेलाटोनिन रसायन चारित्रिक विकृति पैदा करता है। काम-वासना, क्रोध, भय—इन सब आवेशों के लिए उत्तरदायी है वह रसायन। दूसरा रसायन सेराटोनिन भी चेतना को अत्यधिक प्रभावित करता है। वह दृष्टि पर प्रभाव डालता है। उसका मुख्य कार्य है—मस्तिष्क की चेतना को संकुचित करना। वह सघनता से फैल जाता है और चेतना पर आवरण बन जाता है।

मादक वस्तुओं का कुप्रभाव

आज एल. एस. डी. बहुचर्चित है। आज के युग में जीने वाला, यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाला, इसका नाम और प्रयोग न जाने, यह कैसे संभव हो सकता है। विश्वविद्यालय के परिसर में, साधना-केन्द्रों में, योग साधना और अध्यात्म के नाम से चलने वाली साधना की प्रवृत्तियों के आसपास एल. एस. डी. का प्रयोग मुक्तभाव से किया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि एक बार के प्रयोग से ही आदमी मूर्च्छा में चला

जाता है और से नाना प्रकार के अनुभव होने लग जाते हैं। उसे देवलोक, नए-नए लोकों का साक्षात्कार-सा होता है। वह तब मानने लगता है कि एल.एस. डी. कोई ईश्वरीय अनुदान है। उस एल. एस. डी. में सेराटोनिन रसायन होता है। हमारे मस्तिष्क में भी सेराटोनिन होता है। वह सेराटोनिन हमारे मस्तिष्क को बहुत ही प्रभावित करता है। उससे दृष्टि विकृत होती है। वह मिथ्या-दृष्टि बन जाती है। उससे समूचा चरित्र प्रभावित होता है। वह विकारपूर्ण बन जाता है।

ध्यान-साधना का प्रयोजन है—इन रसायनों को बदल देना। हम शान्तिकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र और दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करते हैं। इससे मस्तिष्क का भाग हाइपोथेलेमस प्रभावित होता है। इससे पिनियल और पिच्यूटरी—ये दोनों ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं। जब ये चैतन्य-केन्द्र प्रभावित होते हैं तब स्राव बदल जाते हैं।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में चैतन्य-केन्द्रों पर किया जाने वाला ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसके बिना व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। हम श्वास पर या शरीर पर ध्यान करें या लेश्या ध्यान करें, किन्तु इनके मूल में जो सच्चाई है वह यह है कि जब तक चैतन्य-केन्द्रों को प्रभावित नहीं किया जाता इन स्रावों को नहीं बदला जाता तब तक व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं हो सकता, आदतों का परिवर्तन और स्वभाव का परिवर्तन नहीं हो सकता। चैतन्य-केन्द्रों को सक्रिय किए बिना विशेष प्रकार की चेतना का जागरण नहीं होता मूर्च्छा का विघटन नहीं होता और दृष्टि नहीं बदलती। हम कह सकते है कि तब तक सही अर्थ में दर्शन का बोध ही नहीं होता।

तीसरी आंख : वस्तु-सत्य की दृष्टि से

वस्तु-सत्य की दृष्टि से तीसरा नेत्र है—ध्रौव्य, ध्रुवता। हम उत्पाद को देखते हैं और विनाश को देखते हैं। ये दो आंखें है। जब तक ध्रौव्य को देखने की हमारी आंख नहीं खुलती, जब तक शाश्वत को देखने वाली प्रज्ञा नहीं जागती, तब तक तीसरा नेत्र उद्घाटित नहीं होता। वस्तु-सत्य की दृष्टि से कहें तो तीसरा नेत्र होगा ध्रुवता को पकड़ने वाली प्रज्ञा।

तीसरी आंख : आचार-शास्त्रीय दृष्टि से

आचार की दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे आचार में पदार्थ का गहरा सम्बन्ध होता है। पदार्थ की प्रियता एक आंख है। पदार्थ की अप्रियता दूसरी आंख है। ये दोनों खुली रहती हैं तब तक आचार की पवित्रता नहीं हो सकती। आचार की पवित्रता तब होती है जब प्रियता और अप्रियता से परे की

आंख—तीसरी आंख खुल जाती है। उस स्थिति में पदार्थ पदार्थमात्र रहता है, न उसके प्रति प्रियता होती है और न उसके प्रति अप्रियता होती है, किन्तु तब समता होती है यही हमारी तीसरी आंख है। आचार-शास्त्रीय दृष्टि से तीसरी आंख है—समता।

तीसरी आंख : वैचारिक दृष्टि से

वैचारिक दृष्टि से तीसरी आंख है—तटस्थता।

एक विचारक एक दृष्टिकोण को पकड़कर उसका पक्ष करता है, समर्थन करता है, उसके प्रति राग करता है। दूसरा विचारक दूसरे का पक्ष करता है, समर्थन करता है। पहला विचार दूसरे का खण्डन करता है और दूसरा विचार पहले का खण्डन करता है। दोनों एक-दूसरे को प्रतिपक्षी मानते हैं, द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। अपने विचार के प्रति राग और दूसरे के विचार के प्रति द्वेष, राग-द्वेष की ये दोनों आंखें अपना काम करती हैं। जब तक तटस्थता की दृष्टि नहीं जागती तब तक तीसरा नेत्र नहीं खुलता। जैसे ही तीसरा नेत्र खुलता है, अपना विचार छूट जाता है, पराया विचार भी छूट जाता है और शेष केवल सचाई रह जाती है, व्यक्ति पूर्ण तटस्थ हो जाता है।

दृष्टिराग की प्रबलता

आचार्य हेमचन्द्र ने एक श्लोक के माध्यम से मार्मिक बात कही है—

"कामरागस्नेहरागौ, ईषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान, दुरच्छेदः सतामपि॥"

काम-वासना का राग और स्नेहराग—ये दोनों सरलता से मिटाए जा सकते हैं। पति और पत्नि के प्रति काम-वासना की आसक्ति होती है। माता का पुत्र के प्रति स्नेह का अनुबन्ध होता है। इन दोनों कामराग और स्नेहराग—को प्रयत्न करने पर मिटाया जा सकता है, किन्तु दृष्टिराग, अपने विचारों की अनुरक्ति को मिटा पाना सहज-सरल नहीं है। यह दृष्टिकोण का अनुराग अनेक अनर्थ उत्पन्न करता है। बड़े-बड़े लोग भी इसे नहीं छोड़ सकते। जिन्होंने घर-बार छोड़ दिया, जिन्होंने परिवार छोड़ दिया, माता-पिता का स्नेह और मित्रों का सम्बन्ध तोड़ दिया—सब कुछ तोड़ दिया, किन्तु वे भी विचारों के अनुराग को नहीं तोड़ पाए। वे उसमें उलझ गए। दृष्टि का अनुराग भयंकर पाश है, बंधन है।

गृहस्थ का परिवार है—माता, पिता, पति, पत्नि, भाई, बहिन आदि। साधु का परिवार हैं—शास्त्र। साधु शास्त्रों के प्रति इतना आसक्त हो जाता है, उनमें इतना

उलझ जाता है कि जितना संभवतः एक गृहस्थ भी अपने परिवार के प्रति आसक्त नहीं होता, उतना नहीं उलझता। विचारों के प्रति तटस्थ रहना सहज नहीं है। तटस्थता तब फलित होती है जब तीसरा नेत्र खुल जाता है। जब व्यवहार और निश्चय—इन दोनों का समन्वय करने वाला अनेकान्त घटित होता है तब तीसरा नेत्र खुलता है। अनेकान्त आए बिना तटस्थता नहीं आती।

तटस्थता की संभाव्यता

एक भाई ने पूछा—क्या तटस्थता संभव है? अजीब प्रश्न है। क्या उत्तर दूं? इसे संभव कैसे कहूं और असंभव भी कैसे कहूं? जब तक अपने विचार के प्रति राग और दूसरों के विचार के प्रति द्वेष, अपने विचार का समर्थन और दूसरे के विचार का खंडन होता रहेगा तब तक तटस्थता सम्भव नहीं हो सकेगी। जब राग और द्वेष से परे, मण्डन और खण्डन से परे की प्रज्ञा जागृत हो जाती है तब तटस्थता सम्भव हो जाती है। दो नेत्रों के साथ-साथ तीसरा नेत्र भी खुल जाता है। इस प्रकार तटस्थता सम्भव भी है और असंभव भी है।

एक घटना है। जनता ने राजा से शिकायत की आचार्य हेमचन्द्र महादेव को नमस्कार नहीं करते। राजा शिवभक्त था। आचार्य हेमचन्द्र को शिव-मन्दिर ले जाया गया। राजा ने कहा—महाराज! क्या आप महादेव को नमस्कार नहीं करते? आचार्य ने कहा—क्यों नहीं करता। तत्काल उन्होंने नमस्कार की मुद्रा में कहा—

"भवबीजांकुरजननाः रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य.
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हदो जिनो वा नमस्तस्मै॥"

अर्थात जन्म-मरण के दो बीज हैं—राग और द्वेष। ये दोनों जिसके समाप्त हो चुके हैं, उसका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो—उन सबको मेरा नमस्कार है।

तीसरे नेत्र की प्रयोजनीयता

जिसका तीसरा नेत्र खुल जाता है वह नाम में नहीं अटकता। वह अनाम की ओर चल पड़ता है।

जिसका तीसरा नेत्र खुल जाता है वह रूप में नहीं उलझता। उसकी यात्रा अरूप की ओर हो जाती है।

जिसका तीसरा नेत्र नहीं खुलता, वही नाम-रूप में अटकता है, उलझता है। नाम और रूप—ये दोनों सभी धर्मों और दर्शनों को उलझाए हुए हैं। इनके जाल में फंसा व्यक्ति न आध्यात्मिक हो सकता है और न कोई साधना करने वाला साधक

ही हो सकता है। किन्तु नाम-रूप की गुत्थी तब तक नहीं सुलझती जब तक अनेकान्त की दृष्टि विकसित नहीं होती, अनेकान्त की तीसरी आंख नहीं खुलती। आचार्य हरिभ्रद् ने कहा—

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कालिदाषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥'

—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और सांख्यमत के प्रवर्तक कपिलऋषि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। महावीर मेरे मित्र नहीं हैं और कपिल मेरे शत्रु नहीं हैं। जिनका वचन युक्तिसंगत है, वही मुझे मान्य है।

यह बात अनेकान्त के आलोक में ही कही जा सकती है। यह बात वही व्यक्ति कह सकता है, जिसके जीवन में अनेकान्त फलित है, जिसकी तीसरी आंख उद्घाटित है।

आचार्य हरिभ्रद का एक ग्रन्थ है—शास्त्रवार्ता समुच्चय। इस ग्रन्थ में उन्होंने विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों का समन्वय किया है। इस प्रयास से उन्होंने अनेकान्तदृष्टि को बहुत व्यापक बना दिया।

जिसमें अनेकान्त की प्रज्ञा जाग जाती है, तीसरा नेत्र खुल जाता है, उसके सामने कोई बात मिथ्या नहीं होती। उसके समक्ष सत्य और असत्य की कसौटी यह होती है—जो कथन सापेक्ष है वह सत्य है और जो कथन निरपेक्ष है, अपेक्षा से शून्य है, वह असत्य है। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं होता। इस कसौटी के आधार पर ही वह एक विचार को मान्य करता है या अमान्य करता है। वह यह नहीं देखता कि यह विचार कहां से आ रहा है ? कौन है इस विचार का प्रवर्तक, वह नहीं सोचता। वह केवल यही देखता है कि जो बात कही जा रही है वह सापेक्ष है या निरपेक्ष। यदि सापेक्ष है तो मान्य है, यदि निरपेक्ष है तो अमान्य है।

काल की इस लंबी अवधि में आचार्य सिद्धसेन, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य वादिदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र आदि महान् आचार्यों ने अनेकान्तदृष्टि का बहुत व्यापक सन्दर्भ में प्रयोग किया और तीसरे नेत्र के उद्घाटन की बहुत संभावनाएं प्रगट कर दीं।

आज और अधिक संभावनाएं हैं, क्योंकि आज का ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो चुका है।

दर्शन और यथार्थ

प्राचीनकाल में दर्शन की अनेक शाखाएं प्रचलित थीं। हर पहलू पर दर्शन की

दृष्टि से विचार करने की परम्परा थी। पर उस काल में दर्शन-शास्त्रियों ने योग को दर्शन नहीं माना। इसे दर्शन से अलग माना। दर्शन वस्तु-सत्य को जानने की दिशा के रूप में विकसित हुआ और योग साधना-पद्धति के रूप में माना जाने लगा। सांख्य का दार्शनिक पक्ष दर्शन कहलाता है और सांख्य की साधना-पद्धति योग दर्शन कहलाती है। दोनों को अलग-अलग बांट दिया। यह विभाजन उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में दर्शन वही होता है जो हमारे समग्र जीवन की सच्चाईयों को प्रगट करता है। साधना का दर्शन ही यथार्थ में दर्शन होता है। परन्तु प्राचीनकाल में वस्तु-सत्य को जानने वाला ही दर्शन माना गया। इससे दर्शन बहुत सीमित हो गया। उससे सारा जीवन अछूता ही रह गया। जिस दर्शन का हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, जिस दर्शन से हमारे वर्तमान जीवन की समस्याएं नहीं सुलझतीं, वह दर्शन किसी आकाशवासी के काम का हो सकता है, धरती पर रहने वाले के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। वह दर्शन किसी और काम का हो सकता है, मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जो दर्शन समस्याओं को नहीं छूता, वह उपयोगी कैसे हो सकता है? जीवन की समस्याओं से कट कर वह दर्शन बड़ा दर्शन कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में पदार्थ का दर्शन जीवन का दर्शन नहीं हो सकता। भ्रम से उसको दर्शन मान लिया गया। यह ऐसा ही भ्रम है जैसा एक आदमी को हुआ था।

एक आदमी ने अपने मित्र से कहा—भाई! सूरज और चांद दो हैं। इन दोनों में चांद अधिक उपयोगी है, क्योंकि वह अंधेरे में उजाला करता है। सूरज का उपयोग ही क्या है? वह तो दिन में आता है। दिन में तो प्रकाश होता ही है। रात को अंधेरा होता है। चांद आता है। चांदनी से सारी भूमि प्रकाशित हो जाती है। इसलिए जो अंधेरे में प्रकाश फैलाता है, उसका उपयोग अधिक है। चांद अधिक उपयोगी है।

ऐसा ही भ्रम दर्शन के क्षेत्र में हुआ है। दर्शन उपयोगी है, क्योंकि उससे पदार्थ का ज्ञान होता है, सृष्टि-रचना का ज्ञान होता है, आत्मा और परमात्मा का ज्ञान होता है। इसमें जीवन का प्रश्न छुआ नहीं गया। इसे अछूता ही रखा। पर उसे ही दर्शन मान लिया गया। यह ऐसी ही बात है—सूरज को क्या जानना, क्या देखना। रात को प्रकाशित करने वाला चांद ही उपयोगी है। सूरज का वर्त्तमान में कोई उपयोग नहीं है।

दर्शन-क्षेत्र के इस भ्रम से अनेक अनर्थ हुए हैं। आज इस दृष्टि को बदलने की आवश्यकता है।

एक भाई ने मुझे लक्ष्य कर कहा—"आज आप अध्यात्म की, साधना की और योग की चर्चा करते हैं, किन्तु इतने समय तक आप दर्शन के विषय में लिखते थे, दर्शन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करते थे। आज उन सारी बातों को छोड़ कर अध्यात्म और योग की बातें करने लगे हैं।"

मैंने सुना। मुझे हंसी आई कि दुनिया भी कैसी अजीब है। यथार्थ में अब मैं जो कर रहा हूं वही दर्शन का काम है। दर्शन का काम अब शुरू किया है। इतने दिन तक जो करता था, वह उधार का काम था, मूल का काम नहीं। वह केवल बुद्धि का काम था, मनन और चिन्तन का काम था। वह छोटा काम था। बुद्धि, चिन्तन और मनन से संपादित होने वाला काम बहुत छोटा काम होता है। वास्तव में दर्शन वह होता है जिससे कुछ प्रत्यक्ष हो। जब हम तथ्य का साक्षात्कार करते हैं, उसकी अनुभूति करते हैं, तब दर्शन होता है। जब साक्षात् नहीं होता, तब दर्शन नहीं, दोहराना मात्र है। वास्तव में हम दोहराए चले जा रहे हैं। पुराने ग्रन्थों की बात मैं दोहरा दूं। मेरी बात दूसरा दोहरा दे और उसकी बात उसका पश्चात्वर्ती कोई दोहरा दे, यह सरल काम है, पर यह दर्शन नहीं है। टेपरिकार्डर बहुत अच्छा दोहराता है। आदमी में वह क्षमता नहीं हैं कि अक्षरशः दोहरा दे। कम्प्यूटर या टेपरिकार्डर यह काम आसानी से कर लेता है। वह दर्शन नहीं कहा जा सकता। वह मात्र तोतारटन ही होगा।

दर्शन का पहला बिन्दु

जो दार्शनिक इस मस्तिष्क की सीमा से परे, स्नायु-संस्थान की सीमा से परे, ग्रन्थि-संस्थान से परे जाकर सूक्ष्म शरीर की संरचना तथा उसके साथ काम करने वाली चेतना के स्तर पर जाकर तीसरे नेत्र को उद्घाटित कर, अनेकान्त की प्रज्ञा को जगाकर वस्तु-सत्य का साक्षात् करता है, वह है दर्शन का पहला बिन्दु। जहां बुद्धि पूरी होती है, वह है दर्शन का पहला बिन्दु। बुद्धि का अंतिम बिन्दु ही दर्शन का पहला बिन्दु है।

तर्क की प्रयोजनीयता

तर्कशास्त्र को दर्शनशास्त्र मानना बहुत बड़ी भ्रांति है। तर्कशास्त्र केवल व्यवहार को चलाने वाला शास्त्र है। तर्क जरूरी है। जीवन का एक पहलू है—व्यवहार। व्यवस्था-तंत्र में व्यवस्था का पालन करना होता है। वहां तर्कशास्त्र भी जरूरी होता है। यदि तर्कशास्त्र न हो तो व्यवस्थाओं का निपटारा नहीं हो सकता। तर्क अनुपयोगी नहीं है। अनेकान्त की दृष्टि से देखने वाला किसी भी बात को अनुपयोगी नहीं कह सकता, मिथ्या या असत्य नहीं कह सकता। कोई न्यायालय में खड़ा हो और तर्क

का उपयोग न करे तो वह पहले ही हार जाता है। वहां तर्क के आधार पर ही सारे निर्णय होते हैं। न्यायाधीश बलवान् तर्क को महत्व देकर निर्णय देता है।

केस चल रहा था। एक्सीडेन्ट में एक आदमी का हाथ टूट गया। वह हरजाना पाना चाहता था। न्यायाधीश ने पूछा—तुम्हारे हाथ में चोट आई है?

हां, माई लार्ड।

हड्डी नहीं टूटी?

नहीं टूटी। परन्तु दर्द बहुत है। हाथ उठता ही नहीं।

क्या पहले हाथ उठता था?

हां, पूरा उठता था।

कितना उठता था?

उसने तपाक से हाथ ऊंचा कर दिया।

न्यायाधीश ने केस खारिज कर दिया। हरजाना नहीं मिला।

यदि तर्क न हो तो न्यायाधीश कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता। तर्क न हो तो वादी, प्रतिवादी का खण्डन नहीं कर सकता। तर्क और बुद्धि—दोनों आवश्यक हैं। यदि ये दोनों न हों तो मनुष्य फिर उसी आदिमयुग में चला जाएगा जहां न बुद्धि का विकास था और न तर्क का। इनके अभाव में आदमी हजारों-हजारों कठिनाइयां सहता चला जा रहा था। आज मनुष्य बुद्धि और तर्क का विकास कर अपनी विकास की सीमा को बहुत आगे ले गया है। वह एक मंजिल पार कर चुका है। बैल हजारों वर्षों से बैलगाड़ी खींचता रहा है, आज भी खींच रहा है और सम्भव है भविष्य में भी खींचता रहेगा। उसने कुछ भी विकास नहीं किया है, क्योंकि उनमें न बुद्धि है और न तर्क। वह जहां था, वहीं है, वहीं रहेगा। मनुष्य ने अपने बुद्धिबल और तर्कबल के द्वारा उस पशुता की मंजिल को पार कर लिया है। मैं नहीं कहता कि बुद्धि और तर्क सर्वथा व्यर्थ है। किन्तु यही सब कुछ है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इससे आगे भी एक दुनिया है। वह दुनिया है, अध्यात्म की। वह संसार है अनेकान्त का। जो समस्याएं तर्क और बुद्धि के द्वारा नहीं सुलझाई जा सकतीं, उन समस्याओं का समाधान अन्तर्प्रज्ञा के द्वारा हो सकता है। उन समस्याओं का समाधान अन्तर् चक्षु और तीसरे नेत्र द्वारा हो सकता है, अनेकान्त की चेतना के विकास से हो सकता है। अनेकान्त की चेतना जब जाग जाती है, तब तटस्थता जीवन में घटित होती है। फिर किसी के प्रति पक्षपात नहीं होता। बुद्धि के प्रति पक्षपात होता है। तर्क के प्रति पक्षपात होता है। बुद्धि और तर्क का क्षेत्र पक्षपात से रहित नहीं हो सकता। बौद्धिक और तार्किक आदमी अपना समर्थन और दूसरे का खण्डन करने में रस लेता है।

हम दोषारोपण करते हैं कि व्यक्ति तटस्थ नहीं हैं। यह भी हमारी भ्रान्ति है। बुद्धि और तर्क की सीमा में यह सब होगा। ऐसा होना स्वाभाविक है। तटस्थ न होना कोई बड़ी बात नहीं है। पक्षपात से मुक्त होने का, तटस्थ होने का, केवल एक ही उपाय है—तीसरे नेत्र का जागरण। तीसरे नेत्र का जागरण होने पर पक्षपात छूट जाता है। कोई पक्षपात कर नहीं सकता। वह धीरे-धीरे कम होता चला जाता है।

तीसरे नेत्र की जागृति का एक उपाय है—अनेकान्तदृष्टि का विकास। जब यह दृष्टि विकसित होती है तब तृतीय नेत्र उद्घाटित हो जाता है।

प्रवचन ६

संकेतिका

१. चेतना के दो स्तर हैं—स्थूल और सूक्ष्म।

२. सूक्ष्म चेतना के स्तर पर समाज के बीज होते हैं और स्थूल चेतना के स्तर पर वे पुष्पित, पल्लवित होते हैं।

३. इच्छा व्यक्ति की सामाजिकता का लक्ष्य है।

४. स्वतन्त्रता का अर्थ है—सापेक्षता।

५. सापेक्षता का अर्थ है—सीमाबोध—हम सब अधूरे हैं, कोई सर्वथा पूर्ण नहीं है, इसलिए सब सापेक्ष हैं।

६. एक भाई ने पूछा—क्या स्वतन्त्रता संभव है? मैंने कहा—यह मत पूछो। यह पूछो—क्या परतन्त्रता संभव है? यदि परतंत्रता संभव है तो स्वतन्त्रता भी संभव है।

७. अस्तित्व में हर तत्त्व अनन्त है। विस्तार में हर तत्त्व सांत—ससीम है।

८. क्या अनेकान्त अनिश्चय है? अनिश्चय नहीं, देश-काल-सापेक्ष निश्चय करना अनेकान्त का मूल सूत्र है।

९. द्रव्य-सापेक्ष निर्णय—अस्तित्व में सब स्वतन्त्र।

- क्षेत्र-सापेक्ष निर्णय—क्षेत्र की अपेक्षा स्वतन्त्र भी और परतन्त्र भी।
- काल-सापेक्ष निर्णय—भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा से होने वाला निर्णय।
- भाव-सापेक्ष निर्णय—अवस्था की अपेक्षा से होने वाला निर्णय।

स्वतंत्रता

निर्णायकता का सूत्र—अनेकान्त

एक भाई ने पूछा—क्या स्वतंत्रता संभव है? मैंने कहा—यह मत पूछो। यह पूछो—क्या परतंत्रता संभव है? उसने कहा—परतंत्रता तो बहुत स्पष्ट है। मैंने कहा—फिर स्वतंत्रता क्यों अस्पष्ट है?

स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों सापेक्ष हैं, दोनों साथ जुड़ी हुई हैं। यदि परतंत्रता है तो स्वतंत्रता भी होगी और यदि स्वतंत्रता है तो परतंत्रता भी होगी। दोनों साथ जुड़ी हुई हैं। एक नहीं हो सकती। कोरी स्वतंत्रता भी नहीं हो सकती और कोरी परतंत्रता भी नहीं हो सकती। होंगी तो दोनों साथ होंगी और न होंगी तो एक भी नहीं होगी।

यह अनेकान्त की बात है। लोग सोचते हैं—अनेकान्त उलझाता है। समस्या का कोई समाधान नहीं देता। उसका उत्तर स्पष्ट नहीं होता। आदमी कुछ भी नहीं समझ पाता। अनेकान्त कहता है—आदमी अच्छा भी है और बुरा भी है। इससे व्यवहार कैसे चलेगा? चोर में साहूकार और साहूकार में चोर है तो व्यवहार का निर्णय क्या होगा? फिर साहूकार को खोजने की आवश्यकता ही क्या है? चोरों को इकट्ठा कर लें, क्योंकि चोर में भी साहूकार है। इससे व्यवहार चलेगा नहीं, बिगड़ जाएगा। प्रश्न होता है—क्या अनेकान्त के आधार पर सामाजिक व्यवहार चल सकता है? क्या अनेकान्त के आधार पर जीवन का व्यवहार चल सकता है? उसके आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। वह निर्णय तक नहीं पहुंचाता, निश्चय तक नही ले जाता। अनेकान्त दोनों ओर देखना सिखाता है। आदमी इधर भी देखने लग जाता है, उधर भी देखने लग जाता है। हाथ कुछ नहीं आता।

यह बात आज की नहीं, हजारों वर्ष पुरानी है कि स्याद्वाद आदमी को भटकाता है। अनेकान्त व्यक्ति को कहीं पहुंचाता नहीं, बीच में ही अटका देता है। अनेकान्त की भाषा अनिश्चय की भाषा है। वह निर्णायक नहीं होती।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर गहराई से चिन्तन नहीं किया गया, इसलिए ये विचार बने। यदि गहराई से विचार किया होता तो निर्णय यह होता कि

अनेकान्त ही एक ऐसा तत्त्व है जो निर्णय तक पहुंचाता है। उससे अतिरिक्त कोई तत्त्व ऐसा नहीं जो निर्णय तक पहुंचाए। हम अनेकान्त का सहारा लेकर ही निर्णय तक पहुंच सकते हैं।

एक आदमी बुरा है, धोखेबाज है, चोर है। कोई भी व्यक्ति उसके साथ व्यवसाय में नहीं जुड़ेगा। यह निर्णय वर्त्तमान पर्याय के आधार पर लिया जाता है। किन्तु व्यक्ति का वर्त्तमान पर्याय ही सब कुछ नहीं है। अनेकान्त के चार आधार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। हमारा सारा व्यवहार सापेक्ष होता है। हमारे सारे निर्णय द्रव्य-सापेक्ष, क्षेत्र-सापेक्ष, काल-सापेक्ष और भाव-सापेक्ष होंगे। इन अपेक्षा-सूत्रों को छोड़कर निर्णय नहीं लिया जा सकता।

एक व्यक्ति चोर है, लुटेरा है, डाकू है। उसके साथ क्या व्यवहार किया जाए, यह निर्णय वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा से होगा। वह काल-सापेक्ष निर्णय होगा। यह पूर्ण निर्णय नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्ति में और अनेक संभावनाएं हैं। यदि हम संभावनाओं को छोड़ देते हैं तो हमारी गतिविधियां ठप्प हो जाती हैं। यदि हम भविष्य में होने वाले पर्यायों को नकार देते हैं तो विकास के लिए कोई अवकाश नहीं रहता।

एक बच्चा बहुत नटखट है। उस वर्त्तमान पर्याय के आधार पर बच्चे को अयोग्य घोषित कर दिया जाए और संभावनाओं को अस्वीकार कर दिया जाए तो उस बच्चे का जीवन अंधकारमय बन जाता है। कोई भी माता-पिता अपने बच्चे की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं करते। कोई भी अध्यापक अपने विद्यार्थी के भावी जीवन की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं करता।

मेरी अपनी बात है। बचपन में मैं मंद-बुद्धि था। यदि उस अवस्था को देखकर आचार्य तुलसी मुझे अयोग्य घोषित कर देते तो मैं आज "महाप्रज्ञ" नहीं बन पाता। वर्त्तमान पर्याय के आधार पर यदि सार्वभौम निर्णय ले लिया जाए, संभावनाओं को अस्वीकार कर दिया जाए तो विकास की सारी संभावनाएं लुप्त हो जाती हैं। निर्णय वर्त्तमान पर्याय के आधार पर होता है, किन्तु साथ-साथ संभावनाओं के द्वार खुले रहते हैं तो कोई अनिष्ट नहीं होता। अन्यथा विकास अवरुद्ध हो जाता है।

महान् दार्शनिक और वैज्ञानिक आइस्टीन की घटना है। बचपन की बात है। वे पढ़ने के लिए स्कूल गए। अध्यापक ने कहा—तुम मंद-बुद्धि हो। तुम गणित नहीं पढ़ सकते। तुम्हारा श्रम व्यर्थ है। गणित पढ़ने के लिए बुद्धि का तेज होना

आवश्यक है। वह निर्णय वर्त्तमान के आधार पर था, वर्त्तमान काल-सापेक्ष था। वही आइंस्टीन विश्व का बहुत बड़ा गणितज्ञ बना और अपने युग का शीर्षस्थ बौद्धिक कहलाया।

अनेकान्त एक महान् समाधान है। इसे समझा नहीं गया। यह कभी उलझाता नहीं। यह अनिर्णय की बात नहीं कहता। यह निश्चय तक पहुंचाता है।

अनेकान्त है पुरुषार्थ और पराक्रम का सूत्र

अनेकान्त का सूत्र—वर्तमान पर्याय के आधार पर निर्णय लो किन्तु संभावनाओं के द्वार बंद मत करो। उसे सदा उद्घाटित रखो। यह सोचो—आज यह पर्याय है, कल दूसरा पर्याय सामने आ सकता है। हजारों-हजारों पर्याय उद्घाटित हो सकते हैं। कालचक्र की गतिशीलता के आधार पर जीवन में अनन्त पर्याय व्यक्त हो सकते हैं।

एक आदमी आज रुग्ण है। वर्तमान पर्याय में वह बीमार है। यदि उसे ही अन्तिम मानकर बैठ जाएं, स्वास्थ्य की सारी संभावनाओं को मिटा दें, तो बीमार के लिए किए जाने वाले प्रयत्न नष्ट हो जाएंगे। कोई प्रयत्न नहीं होगा।

अनेकान्त पुरुषार्थ और पराक्रम का सूत्र देता है। वह कहता है—वर्त्तमान पर्याय को शाश्वत मत मानो, सार्वभौम मत मानो। आज जो बीमार है, वह कल स्वस्थ हो सकता है। आज जो स्वस्थ है, वह कल बीमार हो सकता है। बीमारी को मिटाने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो, स्वास्थ्य का पर्याय अभिव्यक्त हो सकता है।

ध्यान साधना में भी अनेकान्त को नहीं भुलाया जा सकता है। मैं ध्यान को प्रारम्भ करने वाले साधकों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। आपका मन स्थिर है या अस्थिर। यदि आप कहें कि हमारा मन स्थिर है तो फिर यहां आने की, ध्यान-शिविरों में भाग लेने की आवश्यकता ही क्या है? चले जाइए अपने घर। यदि आप कहें कि हमारा मन चंचल है तो फिर यहां आने की क्या जरूरत है? जाइए अपने घर। यह निर्णय वर्त्तमान पर्याय के आधार पर होगा। इस निर्णय के आधार पर न आपको ध्यान में बैठने की जरूरत होगी और न मुझे ध्यान का निर्देश देने की जरूरत होगी। यह सारा किया जाता है भविष्य की पर्यायों के आधार पर, संभावनाओं के आधार पर। आज जिसका मन बहुत चंचल है, क्षण-भर के लिए भी स्थिर नहीं होता, संभव है वह कल महान् योगी बन सकता है।

स्याद्वाद है संभावनावाद

स्याद्वाद का अर्थ—सम्भावनाओं का स्वीकार। आश्चर्य होता है कि भारतीय

दार्शनिकों ने स्याद्वाद को सदा संदेहवाद माना, अनिश्चायक माना। किंतु आज के वैज्ञानिकों ने स्याद्वाद का अर्थ—सम्भावनावाद किया है। यह बहुत ही उचित अर्थ है। इससे नई दृष्टि मिलती है। स्याद्वाद, अनेकांतवाद, सम्भावनावाद है। यह सम्भावना को स्वीकार करने वाली दृष्टि है। इस स्वीकृति का आधार यह है—स्थूल जगत् में स्थूल पर्याय के आधार पर निर्णय लिया जाता है। प्रश्न होता है, क्या हमारा जगत् इतना ही है जितना हम जानते हैं? नहीं! स्थूल जगत् से बहुत बड़ा है चेतना का सूक्ष्म जगत्। अभिव्यक्त पर्यायों के जगत् की अपेक्षा बहुत विशाल है अनभिव्यक्त पर्यायों का सूक्ष्म जगत्। अभिव्यक्त पर्याय अल्प होते हैं, अनभिव्यक्त पर्याय बहुत अधिक हैं। भविष्य की सम्भावनाओं का संसार बहुत विशाल है। उनको नहीं भुलाया जा सकता। जो व्यक्ति इन सम्भावनाओं के आधार पर कोई निर्णय लेता है, वह निर्णय सही होता है। वर्त्तमान पर्याय के आधार पर जो निर्णय होता है, उसके साथ यह स्पष्ट बोध होना चाहिए कि वह निर्णय वर्त्तमान या स्थूल पर्याय के आधार पर लिया जा रहा है। पर्याय के बदलते ही निर्णय भी बदल जाएगा। इससे व्यवहार खंडित नहीं होता, किन्तु व्यवहार और अच्छे ढंग से चलता है। एक कर्मचारी है। आज वह ईमानदार है, कल वह धोखा दे सकता है। आज वह धोखेबाज है, कल वह ईमानदार हो सकता है। आज जिस पर पूरा विश्वास है, वह कल अविश्वसनीय बन सकता है। आज जिस पर विश्वास नहीं है, वह कल विश्वसनीय बन सकता है। हम वर्त्तमान पर्याय को सार्वभौम मानकर नहीं चल सकते ससीम को असीम मानकर नहीं चल सकते। सापेक्षता के सूत्र को तोड़कर, निरपेक्ष होकर कोई निर्णय नहीं ले सकते। हमें जो भी निर्णय लेना होता है, वह व्यवहार की भूमिका पर, सापेक्षता के आधार पर लेना होता है।

स्वतंत्रता और परतंत्रता

मैं चर्चा कर रहा था स्वतंत्रता की। कौन स्वतन्त्र है हमारी दुनिया में? केवल अस्तित्व के धरातल पर कोई स्वतन्त्र हो सकता है। स्वतन्त्रता का निर्णय द्रव्य-सापेक्ष होता है। जिस पदार्थ की संरचना में जितने घटक द्रव्य हैं, वह उसकी स्वतंत्रता है। अस्तित्व स्वतंत्र होता है। एक के अस्तित्व में दूसरा कोई हस्तक्षेप नहीं करता। एक परमाणु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, उसमें दूसरा परमाणु हस्तक्षेप नहीं करता, कभी उस पर आक्रमण नहीं करता, कभी उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व में स्वतंत्र है। चेतन, अचेतन—सब अस्तित्व की दृष्टि से स्वतंत्र हैं। आत्मा का भी स्वतंत्र अस्तित्व है और परमाणु का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है वहां पूरी स्वंतत्रता है। कोई पदार्थ किसी

के अधीन नहीं है, अस्वतंत्र नहीं है। दुनियां में कोई किसी के अधीन नहीं है। कोई किसी को अधीन करने वाला नहीं है। सब स्वतंत्र हैं। यह द्रव्य-सापेक्ष निर्णय है।

एक निर्णय होता है—क्षेत्र-सापेक्ष। जो निर्णय क्षेत्र के आधार पर होता है, वह स्वतन्त्र भी हो सकता है, परतंत्र भी हो सकता है। आज हम इस क्षेत्र में हैं। यह हमारी क्षेत्र-सापेक्ष स्वतंत्रता है। हम एक ही क्षेत्र में दीर्घकाल तक नहीं रह सकते। क्षेत्र बदलता है। स्थान का परिवर्तन निश्चित होता है। इसके आधार पर किया जाने वाला निर्णय सापेक्ष ही होगा।

काल-सापेक्ष निर्णय निश्चायक होता है

मनुष्य काल के साथ जुड़ा हुआ है। पदार्थ काल के साथ जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता का निर्णय काल सापेक्ष होता है। वर्त्तमान-सापेक्ष निर्णय काल सापेक्ष है।

बौद्धों के महान् आचार्य धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद के सिद्धांत की मखौल करते हुए कहा—"स्याद्वाद निर्णय तक नहीं पहुंचाता। वह कहता है—यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है। अस्तित्व भी हो सकता है, नास्तित्व भी हो सकता है। तब हम क्यों न मानें कि दही ऊंट हो सकता है और ऊंट दही हो सकता है।" यह तर्क सुनने में अच्छा लगता है कि यदि कोई भी पदार्थ सर्वथा परतंत्र नहीं है तो दही को ऊंट होने से या ऊंट को दही होने से कौन रोक सकता है? ऊंट दही बन जाएगा और दही ऊंट बन जाएगा। यह तर्क एक बार सही-सा लगता है, किन्तु भ्रांत। यदि काल-सापेक्ष निर्णय लिया जाता तो स्याद्वाद को अनिश्चयचाक कहने का साहस नहीं होता।

काल की सापेक्षता के आधार पर अनेकांत यह स्वीकार करता है कि दही ऊंट बन सकता है और ऊंट दही बन सकता है। तर्क होता है—कोई बीमार हो और उसके लिए दही आवश्यक हो तो यदि दही के बदले ऊंट लाकर खड़ा कर दिया जाए तो क्या स्थिति हो सकती है? इसी प्रकार यदि रेगिस्तान की यात्रा में प्रयुक्त ऊंट के बदले दही लाकर रख दिया जाए तो क्यां स्थिति हो सकती है? बड़ी गड़बड़ी हो जाएगी। हम वर्त्तमान की पर्याय को गौण नहीं कर सकते। अनेकांत कभी यह निर्णय नहीं देता कि दही सवारी के काम आ जाएगा, भार ढोने के लिए काम आ जाएगा। तथा ऊंट दही के स्थान पर खाने के लिए काम आ जाएगा। यह अनेकांत की कभी स्वीकृति नहीं हो सकती। अनेकांत कहता है कि वर्त्तमान पर्याय के आधार पर किया जाने वाला निर्णय वर्त्तमान के व्यवहार का संचालक होगा। वर्त्तमान का व्यवहार वर्त्तमान पर्याय के आधार पर चलेगा। दही दही रहेगी, ऊंट

ऊंट रहेगा। दही का काम ऊंट नहीं करेगा और ऊंट का काम दही नहीं करेगी। किन्तु क्या सच्चाई को हम सर्वथा अस्वीकार कर दें? आज जिन परमाणुओं ने दही की रचना की है, वे ही परमाणु काल के अन्तराल में, परिवर्तित होकर ऊंट के शरीर की संरचना कर सकते हैं। आज जो परमाणु ऊंट के शरीर की संरचना कर रहे हैं वे परमाणु भी बदल सकते हैं और कभी दही के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। हम इस सम्भावना को कभी अस्वीकार नहीं कर सकते ।

सम्भावना और वर्त्तमान पर्याय

दो धाराएं स्पष्ट हैं। एक है—सम्भावना की धारा और एक है—वर्त्तमान पर्याय की धारा। इन दोनों धाराओं को उचित समझ लेने पर व्यवहार भी सधता है और निर्णय में भी कोई कठिनाई नहीं होती। अच्छा निर्णय वही होता है जो वर्त्तमान पर्याय के आधार पर लिया जाता है और सारी सम्भावनाओं को ध्यान में रखा जाता है। सम्भावनाओं के साथ चलकर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक—सभी क्षेत्रों में प्रगति के द्वार खुल जाते हैं और व्यक्त अनन्त सम्भावनाओं को संजोकर विकास होता जाता है।

व्यक्ति वहां उलझता है जहां एकांगिता है। एक आदमी ने नौकर रखा और मान लिया कि वह बहुत ईमानदार है। उसे पाला-पोषा। सारी सुविधाएं दीं। एक दिन वही नौकर धोखा दे बैठा और पांच लाख की चोरी कर भाग गया। अब वह स्वामी गिड़गिड़ाने लगा। वह अब दुःखी इसलिए हुआ कि उसका निर्णय एकांगी था। उसने यह सम्भावना नहीं की कि एक दिन वह धोखा भी दे सकता है। वर्त्तमान पर्याय के आधार पर निर्णय लेना अच्छा है, किन्तु भावी सम्भावनाओं को भी कभी अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

दो आदमी एक साथ एक ही व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं। एक व्यक्ति एकांत रूप से वर्त्तमान पर्याय में ही अटक जाता है, सम्भावनाओं को अस्वीकार कर देता है और दूसरा सम्भावनाओं के द्वार को खुला रखकर वर्त्तमान के आधार पर व्यवसाय करता है और देखते-देखते आगे बढ़ जाता है। पहला व्यक्ति पछताता है और हाथ मलते हुए कहता है—अच्छा होता, मैं भी वैसा ही करता।

व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ, सारा पराक्रम, सारी प्रगति, सारी कल्पनाएं और योजनाएं सम्भावनाओं के आधार पर चलती हैं। ये सम्भावनाएं अनेकांत दृष्टि के बिना हो नहीं सकतीं।

तीन आयामों वाली दृष्टि

अनेकांत बहुत बड़ा सूत्र है—भविष्य को जानने का, अतीत से बोधपाठ लेने का और वर्त्तमान में जीने का। अनेकांत भविष्य को अस्वीकार नहीं करता, अतीत के पर्यायों को ध्यान में रखता है और दोनों को स्वीकार कर वर्त्तमान पर्याय के आधार पर व्यवहार का निर्णय करता है।

अनेकांत है तीन आयामों वाली दृष्टि। वह एक आयाम वाली दृष्टि नहीं है। इसके सामने तीनों आयाम तथा काल की दृष्टि स्पष्ट होती है। काल-सापेक्ष निर्णय व्यवहार को ठीक चलाने वाला होता है। जहां निर्णय काल-सापेक्ष नहीं होता, वहां सारी उलझने पैदा होती है। कोई व्यक्ति पुरुषार्थ करता है। कभी वह सफल नहीं होता, तब दुःखी बन जाता है। वह सोचता है, इतना श्रम किया, कुछ भी नहीं हुआ। वह व्यक्ति इसीलिए दुःखी बनता है कि वह अनेकान्त को नहीं जानता। यदि वह अनेकान्त को जानता तो कभी दुःखी नहीं बनता। वह सोचता है—पुरुषार्थ वर्त्तमान का पर्याय है। आदमी अपनी बुद्धि से, शरीर से पुरुषार्थ करता है फिर भी यदि सफल नहीं होता है तो कोई न कोई तत्त्व बाधक बन रहा है। वह तत्त्व है—अव्यक्त पर्याय, सूक्ष्म पर्याय, अतीत का पर्याय अर्थात् अतीत का कोई ऐसा संचय जो बाधा दे रहा है। अतीत को छोड़कर वर्त्तमान की व्याख्या नहीं की जा सकती। वर्त्तमान और अतीत को छोड़कर भविष्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। वर्त्तमान का काल विपाक-काल होता है। वर्त्तमान है परिणाम का काल, वर्त्तमान है संरचना का काल, निर्माण का काल। वर्त्तमान अतीत से प्रभावित होता है और भविष्य को प्रभावित करता है। अतीत और भविष्य के बीच की कड़ी है वर्त्तमान। अतीत के प्रभावों से सर्वथा अप्रभावित वर्त्तमान की कल्पना नहीं की जा सकती। मनश्चिकित्सक अतीत की घटनाओं को सुनकर, समझकर चिकित्सा करता है। वह रोगी को शिथिलीकरण की मुद्रा में सुलाकर अतीत को अनावृत करने की बात कहता है। अतीत के घटनाक्रम को वह ध्यान से सुनता है और रोग के मूल कारण को पकड़ लेता है। अतीत की कहानी सुनते-सुनते वह चिकित्सक निर्णय ले लेता है कि कहां, कहां किस घटना से वह प्रभावित हुआ है और कैसी मानसिक ग्रन्थि बनी है। अतीत के बिना वर्त्तमान की व्याख्या नहीं की जा सकती। मनश्चिकित्सक रोग के निदान में आनुवंशिकता (हेरिडिटी) को भी ध्यान में रखता है। उसके बिना वह रोग का निर्णय नहीं ले पाता। आवश्यकता के आधार पर निर्णय करना अतीत के आधार पर वर्त्तमान का निर्णय

करना है। वर्त्तमान के आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। अतीत वर्त्तमान सापेक्ष होता है। निर्णय अतीत और वर्त्तमान सापेक्ष होना चाहिए। दोनों विभाजित नहीं हो सकते। भविष्य की संभावना भी अतीत और वर्त्तमान के आधार पर होती है। वर्त्तमान को छोड़कर भविष्य की संभावना नहीं की जा सकती। आज का धार्मिक वर्त्तमान को भुलाकर भविष्य की संभावना करता है। वह कहता है—धर्म से भविष्य सुधर जाएगा, चाहे वर्त्तमान अच्छा हो या न हो। धर्म से परलोक सुधर जाएगा, चाहे इहलोक सुधरे या न सुधरे। वह वर्त्तमान की चिन्ता नहीं करता। वर्त्तमान-निरपेक्ष भविष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्त्तमान को तोड़कर भविष्य को नहीं देखा जा सकता है। वर्त्तमान की प्रवृत्ति को तोड़कर भविष्य के परिणाम की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रवृत्ति और परिणाम—दोनों सापेक्ष होते हैं। दोनों को काटा नहीं जा सकता। कितनी सापेक्ष है अनेकान्त की दृष्टि! फिर यह प्रश्न क्यों होता है कि अनेकान्त की दृष्टि उलझाती है। क्या बिना अनेकान्त या सापेक्षता के सूत्र को पकड़े बिना किसी तथ्य की व्याख्या की जा सकती है? क्या वस्तु-सत्य या आचार-व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है? कभी नहीं की जा सकती। जीवन की पूरी प्रणाली, जीवन की पूरी पद्धति अनेकान्त के बिना व्याख्यायित नहीं हो सकती।

एक व्यक्ति के अर्थाभाव था। दूसरे आदमी ने कहा—तुम अपने दोनों पैर दे दो, मैं तुम्हें पांच हजार रुपये दे दूंगा। उसने कहा—"पैर दे दूं! क्या पंगु बन जाऊं? बिना पैरों के जीवन-यात्रा कैसे चला पाऊंगा? पैर नहीं दे सकता।" इस निर्णय को हम क्या मानें? क्या यह निरपेक्ष निर्णय है? नहीं, यह भाव-सापेक्ष निर्णय है, यह अवस्था सापेक्ष निर्णय है। न जाने किस परिस्थिति में, किस अवस्था में कौन सी घटना घट जाए?

व्यक्ति को कभी पैर कटाने भी पड़ जाते हैं। सड़क दुर्घटना हुई। भयंकर चोट लगी। डॉक्टर ने परामर्श दिया, पैर कटवा लो, अन्यथा जीवन खतरे में हो सकता है। सर्जरी के पांच हजार रुपये लगे। एक स्थिति थी कि दूसरा व्यक्ति पैरों के पांच हजार रुपया दे रहा था और आज उसे अपने पांच हजार रुपये खर्च करने पड़े। जिस व्यक्ति ने यह निर्णय लिया कि दस हजार में पैर नहीं दूंगा वह पांच हजार देकर पैर कटवा रहा है। यदि वह एकांगी निर्णय लेता और आज इस अवस्था में भी पैर नहीं कटवाता तो कभी का मर जाता, जीवन के हाथ धो बैठता।

बहुत सारे लोग इसी एकांगी भाषा में सोचते हैं, बोलते हैं। वे कहते हैं—जो निर्णय ले लिया, वह अटल है। परिस्थिति बदले या न बदले, हमारा निर्णय अटल

है। अरे, दुनियां में कोई अटल नहीं होता। जिसे हम परमात्मा कहते हैं, वह भी अटल नहीं है तो आदमी का निर्णय अटल कैसे हो सकता है?

निर्णय के घटक तत्त्व

प्रत्येक निर्णय के चार घटक हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन चारों के आधार पर निर्णय बदलता रहता है। जो निर्णय इनके आधार पर नहीं बदलता, वह निर्णय नहीं, अनिर्णय होता है। अनेकान्त ने कहा, तुम कोई भी निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से निरपेक्ष होकर मत करो। यह कहो—यह निर्णय अमुक अमुक अपेक्षा से लिया जा रहा है। यदि अपेक्षा बदलेगी तो निर्णय भी बदल जायेगा। पहला निर्णय उस अपेक्षा से सही है और दूसरा निर्णय इस अपेक्षा से सही है। दोनों सही हैं, अपनी-अपनी अपेक्षा से। यदि वे निरपेक्ष होते तो असत्य हो जाते। वे सापेक्ष रह कर ही सत्य होते हैं। सापेक्ष निर्णय सच्चाई के क्षेत्र में प्रवेश है। एक व्यक्ति कहता है—दूध नहीं पीऊंगा। दस दिन बाद दूध पीना प्रारम्भ कर देता है। यदि कोई कहे, इस प्रकार निर्णय बदलने वाला गिरगिट होता है। यह निर्णय उचित नहीं है। दूध न पीने का निर्णय एक अवस्था में सही है और दूध पीने का निर्णय भी एक अवस्था में सही है। आंव की बीमारी में दूध जहर का काम करता है। आंव से पीड़ित व्यक्ति यदि दूध न पीने का निर्णय करे तो वह सही है। बीमारी मिट गई। अब यदि वही आदमी पौष्टिकता के लिए दूध पीने का निर्णय करे तो वह भी उचित है। हम किसी भी निर्णय या निश्चय को निरपेक्ष रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। हमारी दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिये कि अनेकान्त भूलभूलैया नहीं है। यह न भटकाने वाला है और न उलझाने वाला। यह जीवन-व्यवहार की सारी समस्याओं का सहज-सरल ढंग से समाधान देने वाला मंत्र है। इसके आधार पर आदमी न धोखा खाता है और न कोई समस्याओं को पैदा करता है।

सापेक्षता बहुत बड़ा समाधान है। जब सापेक्षता को भुला दिया जाता है तब संघर्ष होते हैं, युद्ध होते हैं। संघर्ष का कारण है—निरपेक्षता। संघर्ष का कारण है एकांगी दृष्टिकोण। संघर्ष का कारण है—सीमा का बोध न होना। सीमा का बोध आवश्यक है।

एक रोगी ने डॉक्टर का दरवाजा खटखटाया। रात के बारह बजे थे। डॉक्टर नींद में था। खड़खड़ाहट सुनकर वह बाहर आया। रोगी ने कहा—डाक्टर! कुत्ता काट गया है। डाक्टर ने कहा—मूर्ख हो। देखो, बोर्ड पर क्या लिखा है? रात को नौ बजे के बाद मैं किसी रोगी को नहीं देखता। रोगी बोला—"बोर्ड पर मैंने पढ़

लिया। किन्तु क्या करूं, डाक्टर साहब ! कुत्ता नहीं जानता कि नौ बजे के बाद नहीं काटना चाहिए।

सापेक्षता के बिना, सीमाबोध के बिना काटने की बात की जा सकती है, जोड़ने की बात नहीं की जा सकती।

इस दुनिया में कोई भी पूरा नहीं है, सब अधूरे हैं। कोई भी निरपेक्ष नहीं है सब सापेक्ष हैं। यह सामाजिक सन्दर्भ या सम्बन्ध की बात है। अस्तित्व के क्षेत्र में प्रत्येक पदार्थ पूर्ण है। जहां विस्तार होता है, जहां समाज बनता है, वहां सब सापेक्ष हैं, अधूरे हैं। इस विस्तार की दुनिया में यदि कोई व्यक्ति निरपेक्षता की बात करता है, निरपेक्षता के आधार पर निर्णय लेता है तो वह शत-प्रतिशत भ्रान्ति है, भूल है। वह धोखा है। अनेकान्त के अतिरिक्त ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जो सापेक्षता का बोध करा सके।

अनन्त पर्याय : अनन्त संभावनाएं

प्रत्येक तत्त्व के अनन्त पर्याय होते हैं। किस समय कौन-सा पर्याय अभिव्यक्त हो, यह नहीं कहा जा सकता। डार्विन ने जिस दिन यह घोषणा की कि आदमी के भी पूंछ होती है और मनुष्य बन्दर की संतान है, उस दिन वह बात अजीब-सी लगी और धार्मिकों ने उसका उपहास किया। यह उपहास एकांगी दृष्टिकोण के कारण था। एंकागी दृष्टिकोण का अर्थ है—अनन्त संभावनाओं की समाप्ति। आदमी के पूंछ नहीं होती, इसे हम एकान्ततः नहीं कह सकते। जैन आगमों में प्रतिपादित है कि कुछ पुरुष (मनुष्य) "लांगूला" पूंछ वाले होते हैं। कुछ मनुष्य "घोटकमुखा"—घोड़े के मुंह वाले होते हैं। कुछ मनुष्य "हस्तिमुखा" हाथी के मुंह वाले होते हैं। अन्तरद्वीपवर्ती प्राणियों के विचित्र प्रकारों का उल्लेख प्राप्त है। इन्हें हम अस्वीकार कैसे करें? संभावनाओं को जहां हम अस्वीकार कर देते हैं, वहां कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं।

"नरसिंह" का प्रयोग भारतीय साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। शरीर आदमी और मुंह सिंह का—यह है नरसिंह का स्वरूप। क्या यह संभव है? हां ! ऐसा संभव है। संभावना को अस्वीकार कैसे करें? ऐसा भी आदमी जन्म ले सकता है जिसका शरीर मनुष्य का हो और मुंह सिंह का हो—नरसिंह। ऐसा भी जन्म हो सकता है जिसमें शरीर मनुष्य का हो और मुंह मछली का हो—मत्स्यावतार। ऐसा भी जन्म हो सकता है जिसमें शरीर मनुष्य का हो और मुंह वराह का हो—वराहावतार।

ये सब अनहोनी बातें नहीं हैं, ऐसी संभावनाएं घटी हैं। इन सबको नकारना दु:साहस ही कहा जा सकता है।

अनेकान्तदृष्टि सत्य के प्रति समर्पण की दृष्टि है। पर्यायों का जगत् अनन्त है। अनेकान्त के बिना उस सच्चाई के जगत् में प्रवेश नहीं किया जा सकता। किसी भी सच्चाई को सर्वथा अस्वीकार नहीं करना चाहिए और सर्वथा स्वीकार भी नहीं करना चाहिए। हम उसे स्वीकार करें जो हमारे वर्त्तमान की सच्चाई है और अस्वीकार करें उसको जो वर्त्तमान की सचाई नहीं है, किन्तु इस अपेक्षा के साथ कि यह भी कभी सच्चाई हो सकती है, स्वीकृत हो सकती है। इस द्वार को कभी बन्द न होने दें।

बुद्धि का सीमाबोध आवश्यक

आचार्य भिक्षु अनेकान्त के पुरस्कर्ता थे। एक बार एक व्यक्ति ने कहा—गुरुवर। यह सत्य समझ में नहीं आता, गले नहीं उतरता, मैं इसे कैसे स्वीकार करूं? आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम सर्वज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी तो नहीं बन गए कि सारी बातें समझ में आ जाएं। तुम अपनी बुद्धि की सीमा को नहीं जानते। उसका सीमाबोध होना चाहिए। जिसकी जितनी बुद्धि होती है, उतनी सीमा तक ही वह समझ पाता है। यदि एक घड़ा कहे कि मैं नहीं मान सकता कि विशाल सागर हो सकता है। कल्पना ही नहीं कर सकता। जब मेरे में इतना पानी नहीं समा सकता तो कैसे मानूं कि दूसरे में उतना पानी समा सकता है? घड़े की अपनी सीमा है और सागर की अपनी सीमा है। जो सागर में समा सकता है वह गागर में नहीं समा सकता। किन्तु यदि गागर अपनी सीमा को नहीं जानते हुए समुद्र के अस्तित्व को नकार दे तो वह कोई सच्चाई नहीं होगी। बुद्धि सबकी समान नहीं होती। बुद्धि में न समाने के कारण सच्चाई को सर्वथा नकार देना नासमझी है, सत्य के साथ खिलवाड़ है।

आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान इन शब्दों में दिया—जो तुम्हारी बुद्धि में समाए उसे तुम यह कह कर मान लो कि यह बात बुद्धिगम्य है। यदि तुम्हारी बुद्धि में न समाए तो कहो कि यह बात मेरी समझ में नहीं आई, किन्तु मेरे से जो अधिक बुद्धिमान हैं, वे ऐसा कहते हैं, इसलिए मैं इसे स्वीकार करता हूं। इससे कठिनाई भी नहीं बढ़ेगी और तुम असत्य के दोषी भी नहीं बनोगे।

मनुष्य को दोनों कोणों को साथ लेकर चलना चाहिए। एक कोण है—बुद्धि की सीमा का, वर्त्तमान की पर्याय की स्वीकृति का और दूसरा होता है—अनन्त संभावनाओं का। जब ये कोण स्वस्थ होते हैं, दोनों में सामंजस्य और सन्तुलन होता है, दोनों दृष्टियां सापेक्षता के सूत्र से जुड़ी होती हैं तो निर्णय सही होता है।

अनेकान्त है समस्याओं का समाधान

आचार्यश्री ने कहा था—मुझे सम्मान मिलता है तो मैं फूलता नहीं और अपमान मिलता है तो कुंठित नहीं होता। मुझे प्रशंसा भी खूब मिली और निन्दा का शिकार भी मुझे होना पड़ा। मैं दोनों में सन्तुलन रखता हूं। सम्मान में फूलता नहीं और निन्दा में सिकुड़ता नहीं। यह है संतुलन।

जब उभयात्मक दृष्टि बनती है तब सापेक्षता का विकास होता है और अनेकान्त की तीसरी आंख खुल जाती है। इससे जीवन-व्यवहार स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण होता है। उससे अनन्त संभावनाओं का द्वार खुला रहता है।

हम यह स्पष्ट अनुभव करें कि अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों का स्वीकार उलझने वाली बात नहीं है। प्रत्येक पदार्थ या तत्त्व का अपनी सीमा में अस्तित्व होता है। जहां अपनी सीमा पूरी हो जाती है, उसका नास्तित्व भी साथ-साथ होता है—अस्तित्व और नास्तित्व, स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों का समाधान सापेक्षता के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

एक योगी था, तपस्वी था। जटा उलझ गई। वह कंघी लेकर उसे सुलझाने बैठा। कंघियां टूटती गईं। जटा नहीं सुलझी। भक्त ने कहा—महाराज! यह जटा जोगी की है। यह कंघियों से नहीं सुलझेगी। यह सुलझेगी उस्तरे से।

अनेकान्त उस्तरा है। वह जोगी की जटा की भांति उलझी हुई समस्त समस्याओं को सुलझा देता है।

प्रवचन ७

संकेतिका

१. अपने प्रति जगाने के लिए, अपने आपको जानने के लिए ध्यान।

२. स्व या अन्तर्जगत् का मूल्य—सार का मूल्य।

- पर या परिस्थिति का मूल्य—छिलके का मूल्य।

३. स्व की सीमा—अनुभव।

- पर की सीमा—विकल्प।

४. स्व के मूल्यांकन से—

- सामंजस्य—
- सन्तुलन—बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं, बहुत घटाकर नहीं।

५. केवल 'पर' के मूल्यांकन से पनपता है—आग्रह, परस्पर दोषारोपण।

सापेक्ष-मूल्यांकन

दूसरों को जानना ही खतरा

ध्यान शिविर चल रहा है। बहुत लोग इसमें सम्मिलित हुए हैं। वे यहां इसलिए आए हैं कि वे अपने प्रति जाग सकें। वे इसलिए आए हैं कि वे अपने आपको जान सकें। प्रश्न होता है—क्या दूसरे के प्रति नहीं जागना है? क्या दूसरे को नहीं जानना है? किन्तु यहां कुछ उल्टा ही चल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह दूसरों के प्रति बहुत जागता है, दूसरे को बहुत जानता है। वह दूसरे के प्रति इतना जागने लगा है, दूसरे को इतना जानने लगा है कि वह अपने आपको भूल ही गया। प्रत्येक घटना और परिस्थिति में हमारा सीधा ध्यान दूसरे की ओर जाता है, अपनी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता। इस एकांगी दृष्टिकोण और निरपेक्ष चिन्तन को बदलने के लिए मैं ध्यान को बहुत महत्त्व देता हूं।

ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने प्रति बहुत जाग जाता है। अपने प्रति बहुत जागना खतरनाक नहीं है। दूसरे के प्रति बहुत जागना खतरनाक है। अपने आपको जानने में कोई खतरा नहीं है। दूसरे को जानना खतरे से खाली नहीं है। अपने आपको जानने वालों ने आज तक कोई खतरा पैदा नहीं किया, किन्तु दूसरों को जानने वालों ने सारे खतरे पैदा किए हैं। आज दुनिया में जितने बड़े खतरे हैं, उनको उन्हीं लोगों ने पैदा किया है जो अपने आपको नहीं जानते, केवल दूसरों को ही जानते हैं।

शस्त्र-निर्माण और परिस्थिति

शस्त्रों का निर्माण क्यों हुआ? दूसरों को जानने के कारण ही शस्त्रों का निर्माण हुआ। कारण स्पष्ट है—कोई दूसरा आक्रमण कर देगा, आ जाएगा, मार डालेगा, लूट लेगा, इसलिए शस्त्रों की निर्मिति हुई। मूल कारण है—सुरक्षा। जब-जब दूसरों के प्रति अधिक ध्यान जाता है तब-तब जाने-अनजाने खतरे मंडराने लग जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि वह 'स्व' का मूल्य नहीं जानता, 'पर' का मूल्य ज्यादा जानता है। 'स्व' का मूल्य नहीं जानता, परिस्थिति का मूल्य ज्यादा जानता है।

अपनी सभी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए मनुष्य के पास एक अमोघशस्त्र है। वह है—परिस्थिति। यह शस्त्र अनुभव से भी बड़ा मान लिया गया है। अणुबम बनाने वालों से भी पूछा जाए कि इतना घातक-संहारक शस्त्र का निर्माण क्यों किया? वे कहेंगे—परिस्थिति से बाध्य होकर हमें ऐसा करना पड़ा है, अन्यथा हम इसका निर्माण नहीं करते।

आज का आदमी परिस्थितिवादी बन गया है। उसने सारा मूल्य परिस्थिति को ही दे डाला है। इसका अर्थ यह हुआ है कि मनुष्य छिलके को अधिक मूल्य देता है, सारभूत पदार्थ को नहीं। छिलका ही उसके लिए सब कुछ हो गया है।

अनेकान्त की दृष्टि से सोचने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि परिस्थिति का कोई मूल्य नहीं है। परिस्थिति का भी मूल्य है। किन्तु छिलके का जितना मूल्य है उतना ही है परिस्थिति का मूल्य। कोई भी समझदार आदमी कोरे छिलके को नहीं खाता, वह सार को ही खाता है। क्या परिस्थिति को ही सब कुछ मानने वाला व्यक्ति, उसकी ओट में अपने आपको छिपा देने वाला व्यक्ति, कोरा छिलका नहीं खा रहा है? वह परिस्थिति को अतिरिक्त मूल्य दे रहा है। उसको इतना मूल्य दे रहा है, जितना मूल्य उसका है नहीं।

परिस्थिति मनुष्य को तभी प्रभावित करती है जब उसमें प्रभावित होने वाले बीज विद्यमान होते हैं। किसी ने गाली दी। क्रोध आ गया। परिस्थिति बनी, क्रोध आ गया। परिस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि गाली क्रोध को तभी उत्पन्न करती है जब व्यक्ति में क्रोध के बीज विद्यमान हों। जब क्रोध के बीज समाप्त हो जाते हैं, तब हजार गालियां देने पर भी व्यक्ति में क्रोध उत्पन्न नहीं होता, कभी नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों में क्रोध उत्पन्न करना सहज नहीं होता। हजार प्रयत्न करने पर भी उनमें क्रोध उत्पन्न होता ही नहीं।

संत एकनाथ की समता

महाराष्ट्र के संत एकनाथ गोदावरी में स्नान करके आ रहे थे। एक आदमी झरोखे में बैठा था। उसने सोचा—संत आ रहे हैं, उनको गुस्से में ले आऊं। ज्योंही संत झरोखे के नीचे आए, उसने ऊपर से थूक दिया। संत के सिर पर थूक पड़ा। वे शुद्धि के लिए पुनः नदी की ओर चल पड़े। स्नान किया और फिर उसी झरोखे के नीचे से गुजरे। उस आदमी ने पुनः थूक दिया। संत पुनः स्नान करने नदी की ओर मुड़े। बीस बार आदमी ने थूका और बीस बार संत को स्नान करना पड़ा। किन्तु उनके मन में उस व्यक्ति के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं आया। व्यक्ति निराश

हो गया। इतना जघन्य प्रयत्न करने पर भी क्रोध नहीं आया। वह नीचे उतरा और संत के पैरों में गिर पड़ा। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"मैंने जघन्य अपराध किया है। आप महान् हैं, क्षमा करें।" संत बोले—"तुमने कोई अपराध नहीं किया है। तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। तुम्हारे कारण ही मैं आज पुण्यभागी बना हूं। प्रतिदिन एक बार मां गोदावरी की गोद में जाता हूं। तुमने मुझे मां की गोद में जाने के बीस अवसर दिए। तुम्हारा मैं आभारी हूं।"

परिस्थिति पर दोषारोपण

क्रोध उत्पन्न होने की भयंकर स्थिति एकनाथ के समक्ष थी। विकट परिस्थिति से वे गुजरे। पर क्रोध नहीं आया। क्यों, यह प्रश्न है। इसका समाधान है कि क्रोध उत्पन्न होने की परिस्थिति तो थी, किन्तु व्यक्ति में वह बीज विद्यमान नहीं था जो क्रोध को उभारता है। वह बीज दग्ध हो चुका था।

दूसरे को देखने वाला केवल परिस्थिति को देखता है। वह उस बीज को नहीं देखता जिसे परिस्थिति प्रभावित करती है। ध्यान करने वाला व्यक्ति, अनेकान्त की दृष्टि को जानने वाला व्यक्ति परिस्थिति को पच्चीस प्रतिशत मूल्य देता है और पचहत्तर प्रतिशत मूल्य देता है उस बीज को जो परिस्थिति के कारण अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित और फलित होता है। जिस व्यक्ति ने ध्यान का अभ्यास नहीं किया, जिसने अध्यात्म के मर्म को नहीं जाना, जिसने अध्यात्म से जागृत होने वाली अनेकान्त की दृष्टि का मर्म नहीं जाना वह अपनी दुर्बलताओं को परिस्थिति पर लाद देता है और अनुभव करता है कि मैं तो निर्दोष हूं, दोष सारा परिस्थिति का है।

अस्तित्व और नास्तित्व : स्वगत, परगत नहीं

प्रत्येक व्यक्ति 'पर' या परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर छुट्टी पा लेता है। अनेकान्त की व्याख्या करने वाले आचार्य ने भी ऐसी ही समस्या हमारे सामने उत्पन्न की है। उन्होंने अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों को मान्यता दी। उन्होंने कहा—प्रत्येक तत्त्व का अपने द्रव्य की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने क्षेत्र की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने काल की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने भाव की दृष्टि से अस्तित्व है। प्रत्येक तत्त्व का परद्रव्य की दृष्टि से नास्तित्व हैं, परक्षेत्र की दृष्टि से नास्तित्व है, परकाल की दृष्टि से नास्तित्व है, परभाव की दृष्टि से नास्तित्व है। इसका तात्पर्य है—स्वसत्ता की अपेक्षा अस्तित्व है, परसत्ता की अपेक्षा नास्तित्व है।

अध्यात्म की दृष्टि यहां कुछ गौण हो गई है। 'पर' से नास्तित्व क्यों माना जाए? सापेक्षता की दृष्टि से विचार करें तो अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों स्वगत

होते हैं, वस्तुगत होते हैं। 'परद्रव्य' की उपेक्षा से नास्तित्व है, यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से है और नास्तित्व अव्यक्त पर्याय की अपेक्षा से है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व प्रगट पर्याय की अपेक्षा से है और नास्तित्व संभाव्य है, उनकी अपेक्षा से ही द्रव्य का नास्तित्व है।

नेपोलियन बोनापार्ट कहता था—"मेरे शब्द-कोश में "असंभव" जैसा शब्द नहीं है।" यदि इसे अहंकारपूर्ण कथन माना जाए तो यह बहुत बड़ा अहंकार है और यदि इसे तत्त्वदृष्टि मानें तो यह महत्वपूर्ण तत्त्वदृष्टि है।

अनेकान्त के रहस्य को समझने वाला व्यक्ति किसी भी बात को असंभव मानकर नहीं चलता। लोग कहते हैं—मन की चंचलता को मिटाना असंभव है। यह भ्रान्तभरी धारणा है। ध्यान के अभ्यास से मन समाप्त हो जाता है।

पारा बहुत चंचल होता है। पर उसकी चंचलता को मिटाकर, उसकी गोली बांध दी जाती । यह भी बहुत संभव है।

लोग मानते हैं—चलनी में पानी नहीं ठहरता, सारा नीचे आ गिरता है। पर चलनी में पानी को ठहराना भी अब असंभव नहीं रहा है। पानी को बर्फरूप में बदल दो। उसे चलनी में डालो। वह ठहर जाएगा।

हम यदि एक ही दृष्टि से किसी बात को पकड़ लेते हैं, वहां कठिनाई होती है। चलनी में पानी नहीं भी ठहर सकता और ठहर भी सकता है। अवस्था का परिवर्तन चाहिए। अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ सारी असंभव बातें संभव हो जाती हैं।

स्याद्वाद का विराट् दृष्टिकोण

स्याद्वाद ने विराट् दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसके आधार पर ज्ञान, विज्ञान और व्यक्तित्व की अनन्त संभावनाएं स्पष्ट नाचने लग जाती हैं। किसी भी बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज प्रतिदिन नए-नए आविष्कार हो रहे हैं। अनेकान्तवादी व्यक्ति को कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वह जानता है, एक और अनेक—दोनों साथ-साथ चलते हैं। सत्य और असत्य—दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक पर्याय सत्ता में होती है और दूसरी पर्याय असत्ता में हो सकती है। जो आज सत्ता में हैं, वह कल असत्ता में हो सकती है और जो असत्ता में है वह सत्ता में आ सकती है। व्यवहार की बात है, एक व्यक्ति सत्ता में आता है, दूसरा असत्ता में चला जाता है। दूसरा सत्ता में आता है, पहला असत्ता में चला जाता है। सत्ता के जगत् में यही क्रम है। किसने संभावना की थी कि वनस्पति का एक जीव मोक्ष

में चला जाएगा? अविकसित और अव्यक्त चेतना वाला जीव केवली बन जाएगा, कौन जानता था? यह आदितीर्थंकर ऋषभ की मां मरुदेवा के साथ घटित हुआ। यदि हम केवल व्यक्त पर्याय, वर्तमान की पर्याय को ही मानकर चलें तो ऐसा होना कभी संभव प्रतीत नहीं हो सकता। यह सारा अव्यक्त पर्याय के आधार पर हुआ है, होता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि अस्तित्व भी स्वगत है और नास्तित्व भी स्वगत है। कैवल्य का अस्तित्व भी स्वगत है और कैवल्य का नास्तित्व भी स्वगत है। शक्ति का अस्तित्व भी स्वगत है और नास्तित्व भी स्वगत है। आनन्द का अस्तित्व भी स्वागत है। इन दोनों स्थितियों का सापेक्ष मूल्यांकन होना चाहिए। हमें दोनों की सीमा का सम्यग् अवबोध होना चाहिए। सीमा को समझना, सीमा का बोध करना बहुत आवश्यक है।

स्व की सीमा है अनुभव और पर की सीमा है विकल्प। मनुष्य जब तक विकल्प में जीता है, वह पर में जीता है, व्यवहार में जीता है। जब उसका अनुभव जागता है, अनुभव की चेतना का जागरण होता है, अनुभव में जीता है तब स्व की सीमा में आ जाता है।

विकल्प और अनुभव

चेतना के दो स्तर हैं—विकल्प और अनुभव। मनुष्य अधिकांशत: विकल्प का जीवन जीता है। निरन्तर कल्पनाएं और विकल्प मन में उठते हैं, प्रगट होते हैं, तिरोहित होते हैं। एक विकल्प शांत होता है, दूसरा विकल्प जाग जाता है। दूसरा विकल्प शांत होता है, तीसरा जाग जाता है। यह क्रम टूटता ही नहीं। हमारे जीवन की सारी यात्रा विकल्प की गाड़ी पर बैठे-बैठे होती है।हमें निर्विकल्प रहने का अभ्यास ही नहीं है। अनुभव का हमें अभ्यास ही नहीं है। उसको हम नहीं जानते। चेतना का नाम है अनुभव। अनुभव शांत समुद्र है। उसमें विकल्प नहीं होते। विकल्प पानी को गंदला बना देता है, उत्तेजित और प्रकंपित कर देता है। समुद्र को शांत नहीं रहने देता।

एक साधक ध्यान कर रहा था। उसने शिष्य से कहा—पानी पीना है, नदी का पानी ले आओ। शिष्य खाली हाथ लौटा। पूछने पर बोला—पानी गंदला हो गया है, क्योंकि-अभी अभी नदी में से अनेक बैलगाड़ियां गुजरी हैं। कुछ देर ठहरा। दो-तीन बार नदी पर गया, परन्तु पानी अभी गंदला ही था। मिट्टी अभी तक तल में जमी नहीं थी। चौथी बार गया। स्वच्छ पानी से लोटा भर ले आया। गुरु ने

कहा—कुछ समझे या नहीं? शिष्य बोला—समझने जैसा इसनें था ही क्या? बैलगाड़ियां निकलीं, इसलिए पानी गंदला हो गया। मिट्टी के जमते-जमते अब पानी साफ और स्वच्छ हो गया। इसमें कोई रहस्य जैसी बात तो थी ही नहीं। गुरु ने कहा—यही समझना है कि जब विचारों की बैलगाड़ियां दिमाग में से गुजर कर शान्त हो जाती हैं तब चेतना शान्त हो जाती है। वह स्वच्छ हो जाती है। यह स्वच्छता ही अनुभव है। यह हमारी अनुभव-चेतना है। जब विकल्प और विचार शान्त होते हैं तब अनुभव की चेतना जागती है। जिस व्यक्ति ने ध्यान का अभ्यास नहीं किया, जिस व्यक्ति ने विचार और विकल्प को शांत करने की प्रक्रिया नहीं जानी उसकी चेतना कभी स्वच्छ और शान्त नहीं हो सकती। नदी से गुजरने वाली बैलगाड़ियां कितनी हैं? किन्तु दिमाग में से विचारों की जितनी बैलगाड़ियां एक दिन में गुजरती हैं, उतनी बैलगाड़ियां सारे विश्व में भी नहीं हैं। विचारों और विकल्पों के रहते चेतना कैसे निर्मल हो, स्वच्छ हो? यह तभी संभव है कि विकल्पों को रोका जाए। विचारों से हटकर निर्विचार रहना सीखें। विचारों और विकल्पों को रोकने का एकमात्र उपाय है ध्यान। ध्यान की गहराई में जाने पर ही यह संभव हो सकता है। ध्यान अनेकान्त के बिना नहीं हो सकता। अनेकान्तदृष्टि के बिना ध्यान की उपयोगिता भी नहीं बताई जा सकती और समग्र व्याख्या भी नहीं हो सकती।

अनेकान्त में सब कुछ सम्भव

अनेकान्त के जगत् में असंभव जैसा कुछ भी नहीं है। यह संभव है। बच्चों के लिए संभव है, युवकों के लिए संभव है और बूढ़ों के लिए भी संभव है। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि शिविर में भाग लेने वाली कुछेक वृद्ध और अनपढ़ बहनें ध्यान की प्रक्रिया को, अभ्यास को कैसे पकड़ पाएंगी? वे ध्यान का अभ्यास कैसे कर पाएंगी? परन्तु जब उनके अनुभव सुनता हूं, ध्यान-काल के परिणामों को देखता हूं तो लगता है कि अनपढ़ बहनें जितनी दृढ़ता और सहजता से ध्यान-प्रक्रिया को पकड़ पाती हैं, उतनी स्पष्टता से पढ़ी-लिखी बहनें नहीं पकड़ पातीं।

अन्तर् का मार्ग है ध्यान और अनुभव

ध्यान और अनुभव का मार्ग पुस्तकीय ज्ञान का मार्ग नहीं है। ध्यान का मार्ग जवानी और बुढ़ापे के साथ जुड़ा हुआ मार्ग नहीं है। यह अन्तर् का मार्ग है, अन्तर्जगत् के मूल्यांकन का मार्ग है। जिस व्यक्ति ने अन्तर्जगत् का मूल्य आंक लिया, वह इस मार्ग से आगे बढ़ जाएगा। जिसने अन्तर्जगत् का मूल्यांकन नहीं किया, केवल परिस्थिति का ही मूल्यांकन किया है, वह इस मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता।

स्व की परिक्रमा : पर की परिक्रमा

'स्व' का मूल्यांकन करें और 'पर' का भी मूल्यांकन करें। दोनों का मूल्यांकन करें, पर दृष्टि भिन्न-भिन्न हो। हम अनेकान्त की दृष्टि का पूरा उपयोग करें। हमारी यह बहुत बड़ी भूल हुई कि हमने अनेकान्त को तत्त्ववाद की कारा में जकड़ दिया। अनेकान्त साधना का तत्त्व है। वह तर्कशास्त्र का नियम नहीं है, तार्किक प्रणाली नहीं है। यह शुद्ध चैतन्य का अनुभवमात्र है। जिस व्यक्ति ने चित्त को निर्मल करने का प्रयत्न किया वह अनेकान्तवादी नहीं हो सकता, अनेकान्त की दृष्टि उसे उपलब्ध नहीं हो सकती। अनेकान्तदृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक व्यक्ति को ही उपलब्ध हो सकती है। जिसने राग-द्वेष को कम करना सीखा है, जिसमें आग्रह और पक्षपात नहीं है, वही अनेकान्तवादी हो सकता है। जिसने 'स्व' की परिक्रमा करना सीख लिया है, वही अनेकान्तवादी हो सकता है। जिसने आज तक 'पर' की परिक्रमा की, वह कभी अनेकान्तवादी नहीं हो सकता।

पुरानी कहानी है। शिव ने अपने पुत्रों—कार्तिकेय और गणेश से कहा—सारे संसार की परिक्रमा कर आओ। जो पहले पहुंचेगा, वह पुरस्कृत होगा। कार्तिकेय शक्तिशाली था। वह अपने वाहन पर बैठा और संसार की परिक्रमा करने चल पड़ा। गणेश भारी-भरकम था उसका वाहन था चूहा। सोचा—"पुरस्कार जीतना है, पर शर्त कठोर है। मेरे लिए पुरस्कार जीतना संभव नहीं है।"

जब परिस्थिति आती है तब आदमी परिस्थिति पर ही नहीं अटकता। वह असंभव को संभव बनाने के लिए संभावनाओं की खोज प्रारम्भ कर देता है। अनजाने अनेकान्त हमारे जीवन-व्यवहार में उतरता ही है।

गणेश ने संभावना की खोज प्रारम्भ की। सोचा—कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालना है जिससे पुरस्कार मिल सके। हारा हुआ तो हूं ही, फिर भी विजय की संभावना को सोच ही लेना चाहिए। ध्यान दिया। गहरे में उतरा। उपाय हस्तगत हो गया। वह उठा। शिवजी की तीन परिक्रमा कर बैठ गया। कार्तिकेय कुछ समय बाद आया। उसे स्वयं पर और अपने वाहन गरुड़ पक्षी पर पूरा भरोसा था। शिवजी से कहा—मैं तो आ गया, पर गणेश तो गया ही नहीं। बेचारा कैसे जाता। वाहन है चूहा। लाओ पुरस्कार। गणेश बोला—मैं पहले पहुंचा हूं। तुम बहुत बाद में आए हो। कार्तिकेय ने कहा—गए ही नहीं तो आए कैसे? यहीं बैठे हो। गणेश ने हंसते हुए कहा—मैंने संसार की तीन परिक्रमाएं की हैं। कार्तिकेय ने विस्मय से पूछा—कैसे? गणेश बोला—संसार जिसमें समाया हुआ है उस शिव की मैं तीन बार परिक्रमा दे चुका हूं। जो शिव है वह संसार है और जो संसार है वह शिव है।

संसार शिव से अलग नहीं है। महादेव ने निर्णय की भाषा में कहा—गणेश जीत गया और कार्तिकेय हार गया।

जो व्यक्ति स्व की परिक्रमा करता है वह जीत जाता है। जो स्व की परिक्रमा नहीं करता, दूसरों पर भरोसा करता है, वह सदा हारा हुआ होता है।

आकांक्षा व्यक्ति को चलाती है। आकांक्षा का पार वही व्यक्ति पा सकता है जो स्व की परिक्रमा करता है। पदार्थों की परिक्रमा करने वाला कभी आकांक्षा का पार नहीं पा सकता।

आदमी की अनेक वासनाएं हैं, वृत्तियां और चाहें हैं, आवेश और आवेगजनित भावनाएं हैं। वे कभी पूरी नहीं हो सकीं। आज तक का इतिहास बताता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी सभी कामनाओं को पूरी नहीं कर सका। मरते समय उसे यही कहना पड़ा—मन की बात पूरी नहीं हुई, मन में ही रह गई। रावण ने यही कहा—सिकंदर और नेपोलियन ने भी यही कहा। सबने यही कहा—चाह अधूरी ही रह गई, पूरी नहीं हुई। यदि किसी ने कहा कि चाह पूरी हो गई, अधूरी नहीं रही तो वह उस व्यक्ति की बात हो सकती है जिसने अपनी परिक्रमा पूरी कर ली। स्व की परिक्रमा करने वाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं कहा कि चाह पूरी नहीं हुई, अधूरी ही रह गई। उनकी चाह पूरी होती है जो स्व की परिक्रमा करते हैं। उनकी चाह पूरी नहीं होती जो दूसरों की परिक्रमा करते हैं, पर की परिक्रमा करते हैं। हमारी विवेक-चेतना जागे और हम सापेक्ष मूल्य को समझें।

मूल्य है सबका

पदार्थ का या पर का मूल्य नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता। परिस्थिति का मूल्य नहीं है, ऐसा भी मैं नहीं कहता। सबका अपना-अपना मूल्य है। पदार्थ का अपना मूल्य है। व्यवहार का अपना मूल्य है। स्थूल पर्याय, वर्त्तमान पर्याय का अपना मूल्य है। विकल्प का भी मूल्य है। स्मृति और चिन्तन का भी मूल्य है। वर्त्तमान का मूल्य है अतीत और भविष्य का भी मूल्य हैं। यदि यह कहा जाए कि इनका कोई मूल्य नहीं है तो सर्वथा असत्य कथन होगा। जहां ध्यान का मूल्य है वहां रोटी और खेती का भी मूल्य है। यदि खेती और रोटी न हो तो ध्यान का मूल्य भी समाप्त हो जाता है। रोटी होती है तो ध्यान चलता है। रोटी का अपना मूल्य है, तो ध्यान का भी अपना मूल्य है। ध्यान का अपना मूल्य है तो रोटी का भी अपना मूल्य है। कभी-कभी आदमी रोटी को ज्यादा मूल्य दे देता है। तब वह इतना खा लेता है कि जितना नहीं खाना चाहिए। मनुष्य खाने में भी निरपेक्ष होता जा रहा है। वह अनेकान्त को भूल

गया है। वह कभी दूध अधिक पी लेता है तो कभी फल अधिक खा लेता है। कभी मिठाई अधिक खा लेता है तो कभी रोटी अधिक खा लेता है। जीभ को सब स्वादिष्ट लगता है। शरीर को उससे लाभ है या नहीं, इसका विचार भी होना चाहिए। दूध जीभ को स्वादिष्ट लगता है, पर उसका असर आंख पर भी होता है। दोनों की सापेक्षता है। जीभ को निरपेक्ष मूल्य या आंखों को निरपेक्ष मूल्य नहीं दिया जा सकता। दोनों का सापेक्ष मूल्य है। जीभ की और आंत की सापेक्षता है। जीभ की सलाह मानकर आदमी अधिक खा लेता है, पर वह आंतों की सलाह नहीं लेता। यह निरपेक्षता खतरनाक होती है। मनुष्य स्वाद-तन्तुओं की सलाह मानता है, पर शक्ति-तंतुओं की बात नहीं मानता। इस प्रकार उसका समूचा जीवन निरपेक्ष हो गया है। इससे आग्रह पनपा है।

आग्रह : अनाग्रह

सत्य प्राप्त होता है अनाग्रह के द्वारा। सत्य का आधार है—अनाग्रह और असत्य का आधार है—आग्रह। आग्रह पनपता है पर-सापेक्षता के द्वारा। आग्रह पनपता है दूसरे के प्रति अतिरिक्त मूल्य की दृष्टि हो जाने के कारण। आग्रह के अनेक प्रकार हैं। साम्प्रदायिक आग्रह, पारिवारिक और सामाजिक आग्रह, जातीय और राष्ट्रीय आग्रह—ये सारे आग्रह हैं। इनका मूल कारण है—दूसरे के प्रति ध्यान देना, दूसरे की परिक्रमा करना। एक राष्ट्र अंधाधुंध शस्त्रों का निर्माण करता है। पूछने पर कहता है—यदि हम शस्त्रों का निर्माण न करें तो संतुलन बिगड़ जाएगा। इस संतुलन को बनाए रखने के लिए ही शस्त्रों का निर्माण करते हैं। हम युद्ध करने के लिए इनका निर्माण नहीं कर रहे हैं। यह चिन्तन भी दूसरों पर आधारित है। दूसरे क्या कर रहे हैं—इस पर आधारित है। यह आग्रह का एक कारण बनता है। दूसरे की गलती देखना, दूसरों पर दोषारोपण करना, यह इसलिए होता है कि व्यक्ति 'पर' की परिक्रमा कर रहा है।

एक कथा है। एक अहीर अपनी पत्नी के साथ नगर में गया। बैलगाड़ी में माल भरा था। नगर में एक चौराहे पर गाड़ी खड़ी थी। माल उतारने लगा। अहीर ने घी का बर्तन उठाया और पत्नी के हाथ में थमाया। बर्तन नीचे गिरा और टूट गया। सारा घी जमीन पर ढुल गया। अहीर तमतमाकर बोला—कितनी ना-समझ हो तुम! कितना नुकसान कर डाला! बर्तन को पकड़ा नहीं? वह बोली—गलती मेरी नहीं है, तुम्हारी है। तुमने बर्तन मेरे हाथ में थमाया ही नहीं। पहले ही उसे छोड़ दिया। मेरे सिर पर झूठा आरोप लगा रहे हो।

दोनों एक-दूसरे को दोषी बताने लगे। लड़ाई प्रारम्भ हो गई। जहां दूसरे को दोषी माना जाता है वहां लड़ाई को रोका नहीं जा सकता। लड़ाई अवश्य होती है। वे दोनों लड़ने में तन्मय थे। इधर से कुत्तों ने दूध और दही के बर्तनों को साफ कर दिया। चीनी और दूसरी चीजें जमीन पर गिर कर नष्ट हो गई। बिना बेचे ही गाड़ी खाली हो गई। माल सारा चुक गया।

जब-जब आदमी अपने आपको नहीं देखता, अपने को दोषी न मानकर दूसरों पर दोषारोपण करता है तब संघर्ष होता है, संघर्ष की चिंगारियां उछलती हैं। संघर्ष को रोका नहीं जा सकता।

इस घटना का यह पक्ष भी हो सकता था। घी का बर्तन फूट गया। अहीर कहता है—अरे, मेरी असावधानी से बर्तन छूट गया और जमीन पर गिर कर फूट गया। अहीरन कहती है—नहीं, नहीं गलती मेरी है। तुमने तो घी को बर्तन मेरे हाथों में थमाया था, पर मेरी असावधानी के कारण बर्तन छू गया। तुम्हारा कोई दोष नहीं है। दोनों ने दोष को अपने पर ले लिया। बात बढ़ी नहीं, वहीं समाप्त हो गई।

एक ही प्रकार की घटना। उसके दो दृश्य हैं। एक में व्यक्ति दूसरे को ही देखता है। दूसरे में व्यक्ति स्वयं को देखता है। जहां आदमी केवल दूसरे को ही देखता है वहां समस्याएं पैदा होती हैं। जहां आदमी अपने आपको देखता है वहां समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है।

बीमार होने वाला व्यक्ति कभी यह नहीं सोचता है कि उसकी बीमारी की उत्पत्ति में उसका अपना प्रमाद काम कर रहा है। वह बीमारी का कारण परिस्थिति को मानता है। वह वैद्य के सामने भी सही परिस्थिति बताने में सकुचाता है। वह यह कहना नहीं चाहता कि खाने में गड़बड़ी के कारण यह स्थिति बनी है। वह अन्यान्य बातें करता है, मूल कारण नहीं बताता। वैद्य मूल कारण को नहीं पकड़ पाता। अनुमान से औषधि देता है, जो कारगर नहीं होती।

जो ऋजु वह शुद्ध

अपनी दुर्बलता को स्वीकार करने का साहस तभी आता है, जब व्यक्ति में अनेकान्तदृष्टि का उन्नयन होता है। भगवान् महावीर ने कहा—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई—धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। प्रश्न पूछा गया—शुद्ध कौन? भगवान् ने कहा—जो ऋजु है, वह शुद्ध है। ईसामसीह ने कहा—धार्मिक व्यक्ति बच्चे जैसा होता है। एक ही बात है। ऋजु होना और बच्चे जैसा होना—एक ही बात है। बच्चा कभी कुटिल नहीं होता। कुटिल कभी धार्मिक नहीं होता।

मेरे मन में भी एक प्रश्न उभरा—ऋजु कौन होता है ? ऋजु वह होता है जिसे अनेकान्त की दृष्टि उपलब्ध है। एकान्तदृष्टि वाला कभी ऋजु नहीं होता। वह आग्रही होता है। वह दूसरों की दुर्बलताओं को देखता है, परिस्थिति को मूल्य देता है और अपने आस-पास में होने वाली सारी कमजोरियों को दूसरों के सिर लाद देता है। वह आदमी कुटिल होता है। उसमें अनेकान्त की दृष्टि नहीं होती।

हम ऋजु बनें, अनेकान्त की दृष्टि स्वीकार करें। सापेक्षता का मूल्यांकन करें। भाग्य, काल और पुरुषार्थ—ये तीन तत्त्व हैं। अनेकान्तदृष्टि में न भाग्य को अधिक मूल्य दिया जाता है और न काल और पुरुषार्थ को अधिक मूल्य दिया जाता है। जिसका जितना मूल्य होता है, उसका उतना ही मूल्य आंका जाता है।

ध्यान-सामग्री का कितना मूल्य ?

ध्यान को भी अतिरिक्त मूल्य नहीं दिया जाता। ध्यान-सामग्री का भी मूल्य है। वह न हो तो ध्यान नहीं हो सकता। यदि ध्यान की सामग्री नहीं है तो ध्यान को मूल्य देने से क्या होगा ? जिसने तपस्या करना, आहार का संयम करना, कायोत्सर्ग तथा आसन करना, इन्द्रिय-संयम तथा प्रायश्चित के द्वारा चित्त को निर्मल करना, अतीत की मानसिक ग्रन्थियों को खोलना नहीं सीखा वह ध्यान क्या करेगा ? जिसमें विनम्रता नहीं आई, समर्पण का भाव नहीं आया, सहयोग का भाव नहीं पनपा, स्वाध्याय के प्रति अभीप्सा नहीं जागी, ज्ञान के दरवाजे नहीं खुले, विसर्जन करना नहीं सीखा, अहंकार, ममकार और शरीर का विसर्जन करना नहीं सीखा, मन और वाणी का विसर्जन करना नही सीखा और केवल ध्यान को ही पकड़कर बैठ गया तो वह एकान्तवादी हो जाता है। ध्यान भी एकांत की कारा में फंस गया। हमारी ध्यान की दृष्टि भी अनेकांत की दृष्टि होनी चाहिये। अनेकांत के बिना ध्यान को नहीं पकड़ा जा सकता। अनेकान्त की चर्चा ध्यान के बिना नहीं हो सकती। ध्यान और अनेकान्त में तादात्म्य है। भगवान् महावीर ने अनेकान्त दर्शन दिया, पर वह किसी शास्त्र को पढ़कर नहीं दिया। अपने अनुभव के आधार पर यह प्रतिपादित किया है। जिसमें अनुभव का विकास होता है, उसको पढ़ने की जरूरत नहीं होती और संभव है जो ज्यादा पढ़ता है, उसमें अनुभव का विकास नहीं होता। पढ़ना खतरनाक होता है। अनुभव की चेतना जैसे-जैसे जागती है वैसे-वैसे पढ़ना गौण होता चला जाता है। जैसे-जैसे अनुभव की चेतना सो जाती है, वैसे-वैसे पढ़ने की चेतना जाग जाती है। विश्व में जितने महापुरुष हुए हैं, वे सब कम से कम पढ़े-लिखे लोग थे। या तो उन्हें पढ़ने का मौका नहीं मिला या वे स्कूल से निकाल दिये गये।

स्व का सीमा-बोध

एडिसन महान् वैज्ञानिक था। यह माना जाता है कि उस एक व्यक्ति ने विज्ञान जगत् में बहुत खोजें की हैं। वह स्कूल में पढ़ रहा था। एक दिन अध्यापक ने अभिभावकों के नाम पत्र लिखा। उसमें लिखा था—तुम्हारा बच्चा मंदबुद्धि है। पढ़ने योग्य नहीं है। इसे स्कूल से हटा लो। बच्चे को स्कूल से हटा दिया गया। वही एडिसन विश्व का महान् वैज्ञानिक बन गया। उसका मूल कारण था कि उसके अन्तर् में अनुभव की चेतना जाग गई। वह 'स्व' की सीमा में प्रवेश कर गया।

हम 'स्व' की सीमा को समझें। जब व्यक्ति 'स्व' की गहराई में जाता है तब अनुभव की चेतना जागने लगती है और जब अनुभव की चेतना जागती है तब एक विशेष प्रकाश फूटता है। एक ऐसा स्रोत खुलता है जिसमें से सत्य की हजारों रश्मियां निकलती हैं और सारे परिसर को आलोक से भर देती हैं। सारा अंधकार समाप्त हो जाता है। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर भरोसा करने वाला, केवल दूसरों पर भरोसा करने वाला, पर की सीमा को महत्त्व देने वाला, स्व की सीमा को न समझने वाला व्यक्ति निरन्तर गिरता ही जाता है। वह कभी ऊंचा नहीं उठ सकता। वह कभी अपने अंधकार को नहीं मिटा पाता। उसकी समस्याएं कभी समाप्त नहीं होतीं, उलझनें नहीं मिटतीं। बड़ा आश्चर्य होता है कभी-कभी जब सुनता हूं कि हजारों-हजारों व्यक्तियों को प्रतिबोध देने वाला साहित्यकार, सुख और आनन्द देने वाला साहित्यकार, स्वयं दुःखी बन कर आर्त्त-जीवन जीता है। दूसरों का मनोरंजन करने वाला स्वयं दुखी मन लिए सोता है, यह कैसा जीवन? हजारों को हंसाने वाला व्यक्ति अपनी पारिवारिक या व्यक्तिगत समस्याओं से आक्रांत होकर, उनकी चिंगारियां से झुलसता जाता है। यह कैसा ढंग!

एक आंख से हंसता है और एक आंख से रोता है। यह स्थिति तब बनती है जब सापेक्षता का मूल्य विपरीत होता है। मैं नहीं कहता कि आप व्यवहार को त्याग दें, परिवार को छोड़ दें, स्थूल पर्याय को छोड़ दें या स्थूल के आधार पर कोई निर्णय न लें, किन्तु यह कहना न्याय-संगत है, कल्याणकारी है कि व्यवहार के साथ-साथ निश्चय की मर्यादा को भी जानकर चलें। व्यवहार के साथ-साथ वस्तु-सत्य को भी स्वीकार कर चलें। दोनों के सम्बन्ध को मानकर चलें। छिलका और गुदा—दोनों उपयोगी हैं। दोनों के सम्बन्ध को मानकर चलें। दोनों को संयुक्त रखकर चलें। फल का सारभाग तब बनता है जब छिलका होता है। यदि छिलका न हो तो फल का सारभाग नहीं बनता। बिना छिलके का फल असंभव है। छिलके को अस्वीकार

नहीं किया जा सकता। व्यवहार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्थूल पर्याय, वर्त्तमान पर्याय या व्यक्त पर्याय को कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सापेक्ष-मूल्यांकन

यह निश्चय और व्यवहार की सापेक्षता है। 'स्व' और 'पर' की सापेक्षता है। 'स्व' के मूल्यांकन और 'पर' के मूल्यांकन की सापेक्षता है। इन दोनों को साथ लेकर हम चलें। हमारा सारा जीवन-दर्शन, जीवन-यात्रा उभयात्मक पद्धति के आधार पर चलें। इससे समस्याओं का समाधान सरल बन जाता है। यदि दोनों में से किसी एक को अतिरिक्त मूल्य दे दिया जाता है तो समस्याएं उलझती हैं, सुलझती नहीं। समस्याएं जटिल बन जाती हैं। उन जटिल समस्याओं को सुलझाना सरल नहीं होता।

व्यवहार और अध्यात्म

आचार्य पूज्यपाद ने कहा—जो व्यवहार में सोता है, वह अध्यात्म में जागता है और जो अध्यात्म में सोता है, वह व्यवहार में जागता है। अनेकान्त की बात है। व्यवहार को अतिरिक्त मूल्य देने वाला अध्यात्म में कभी नहीं जाग सकता और जो अध्यात्म में जागता है, अध्यात्म में जागना शुरू कर देता है, उसका व्यवहार सो जाता है, कम हो जाता है। केवल व्यवहार तभी चलता है जब आदमी अध्यात्म के प्रति नहीं जागता। अध्यात्म के जागते ही व्यवहार सो जाता है। व्यवहार तब उतना ही बचेगा जितना जरूरी है।

आदमी तब तक अधिक खाता है जब तक वह स्वास्थ्य के प्रति नहीं जाग जाता। जब स्वास्थ्य के प्रति जागरण होता है तब भोजन संतुलित हो जाता है।

आदमी तब तक अधिक बोलता है जब तक वह अपने प्रति नहीं जाग जाता। जब वह अपने प्रति जाग जाता है तब बोलना स्वत: कम हो जाता है।

आदमी सोचता रहता है, इतना सोचता है कि उसे क्षणभर का भी विश्राम नहीं मिलता। दिमाग संकल्प-विकल्प से आक्रान्त रहता है। जब व्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य के प्रति जाग जाता है, तब लगता है कि यह खतरनाक सौदा है। मस्तिष्क को विश्राम देना चाहिए।

जब तक आदमी में अध्यात्म की चेतना नहीं जागती, तब तक कोरा व्यवहार चलता है। जब अध्यात्म की चेतना जाग जाती है तब आवश्यकता मात्र का व्यवहार बन जाता है, शेष व्यवहार छूट जाता है।

प्रवचन ८

संकेतिका

१. कुछ नियत है, कुछ अनियत है।

२. इच्छा हमारी स्वतंत्रता का लक्षण है।

३. अनियत पर इच्छा और पुरुषार्थ का अधिकार है।

४. नियत को नहीं बदला जा सकता।

५. कर्म या भाग्य बदला जा सकता है।

६. नियंत्रण .....ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान।
अनियंत्रण.....स्वतः चालित नाड़ी-संस्थान—मन के नियंत्रण में नहीं।

७. किसी का एक-छत्र शासन नहीं, सबको अवकाश।

८. सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों के साथ-साथ चलने का अभ्यास।

९. सन्तुलन—

- नियत और अनियत का संतुलन।
- नियंत्रण और अनियंत्रण का संतुलन।
- भाग्य और पुरुषार्थ का संतुलन।

सन्तुलन

सीमाबोध की फलश्रुति : सन्तुलन

अनेकान्त एक दर्शन है, सिद्धान्त है उसके द्वारा दुनियां के सार्वभौम नियमों की व्याख्या होती है और परिवर्तनशील नियमों की भी व्याख्या होती है।

कुछ नियम सार्वभौम होते हैं। कुछ नियम परिवर्तनशील हैं। कुछ नियत होता है, कुछ अनियत है। सब कुछ नियत नहीं है और सब कुछ अनियत नहीं है। दोनों साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि विश्व में ऐसा एक भी तत्त्व नहीं है जिसका एक-छत्र शासन हो। सब की सीमा है। काल का महत्त्व है, पर उसका एक-छत्र शासन नहीं है। ऐसा नहीं है कि सब कुछ काल से ही होता है। पुरुषार्थ का बहुत बड़ा महत्त्व है, पर एक-छत्र शासन उसका भी नहीं है। नियति और कर्म का बहुत बड़ा महत्त्व है, पर वे ही सब कुछ नहीं हैं। एकाधिकार किसी का नहीं है। सब पूर्ण हैं अपनी सीमा में और अपूर्ण हैं दूसरों की सीमा में। सीमाबोध की व्याख्या से फलित होता है—सन्तुलन।

सन्तुलन है सेतु

यह विश्व विरोधी हितों, विरोधी स्वार्थों और विरोधी विचारों वाला है। यदि सन्तुलन न हो तो सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है। शरीर चलता है। वह इसीलिए चलता है कि उसमें सन्तुलन है। दो विरोधी प्राणधाराएं शरीर में प्रवाहित हैं। प्राण अपान का विरोधी है और अपान प्राण का विरोधी है। दोनों में सन्तुलन है, इसीलिए आदमी जी रहा है। शरीर में अनेक ग्रन्थियां हैं। उनके कार्य अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें सामंजस्य है, सन्तुलन है। जब तक सन्तुलन है तब तक स्थिति ठीक चलती है। जब असन्तुलन होता है तब सब कुछ गड़बड़ा जाता है।

सन्तुलन विरोधों के मध्य एक सेतु है। वह विरोधों में टकराहट नहीं होने देता। वह दोनों को उपयोगी बना देता है। अनेकान्त ने सन्तुलन की विशुद्ध व्याख्या की है।

नियम अपने-अपने

विश्व में दो प्रकार के तत्त्व हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन या स्थूल पदार्थ

नियत होता है। चेतन नियत नहीं होता। विज्ञान ने प्राकृतिक पदार्थों के नियमों की खोज की और उनकी व्याख्या प्रस्तुत की। किन्तु वह आज तक चेतन जगत् की व्याख्या नहीं कर पाया है। क्योंकि वह नियत नहीं होता। आज एक की खोज होती है और कल वह बदल जाती है, दूसरा नियम बन जाता है। चेतन जगत् के नियमों की खोज करना बहुत बड़ी कठिनाई है।

एक आदमी जा रहा था। एक मकान पर बहुत सारे कौए बैठे थे। उसने सोचा—यह कौओं वाला घर है। शाम को उसी रास्ते से गुजरा। देखा, मकान तो वही है पर कौआ एक भी नहीं है। कौए उड़ गए, मकान नहीं उड़ा। मकान नियत है, कैसे उड़ेगा? कौए प्राणी हैं, चेतन हैं, वे अनियत हैं, कैसे टिकेंगे?

प्राणी अनियत होता है, मकान नियत होता है। कौए की इच्छा होती है तो मकान पर बैठ जाता है, इच्छा होती है तो वृक्ष पर बैठ जाता है और इच्छा होती है तो उड़ जाता है। मकान स्थूल है, नियत है, वह उड़ नहीं पाता।

स्थूल पदार्थ और सूक्ष्म पदार्थ के भी नियम एक नहीं होते। पदार्थ और प्राणीजगत् के भी नियम एक नहीं होते। हम नियमों को नहीं जानते, इसलिए असन्तुलित हो जाते हैं। हर घटना पर व्यक्ति असन्तुलित हो जाता है। इसका कारण है नियमों का अबोध। जो आदमी नियमों को नहीं जानता वह भ्रम में पड़ जाता है। वर्षा हो रही थी। मालिक ने नौकर से कहा—देखो, घर में कहीं पानी तो नहीं घुस आया है। वह उठा नहीं। सोते-सोते ही बोला—मालिक! आप चिन्ता न करें। घर की चाबी मेरे पास है। कौन अन्दर घुस सकता है?

ताला खोलकर अन्दर आने के लिए यह नियम ठीक है। ताला खोलने के लिए चाबी जरूरी है। परन्तु क्या पानी को दरवाजा खोलना पड़ता है? एक का नियम दूसरे पर लागू नहीं होता। स्थूल जगत् का नियम सूक्ष्म जगत् पर लागू नहीं होता। सूक्ष्म जगत् का नियम स्थूल जगत् पर लागू नहीं होता। अचेतन जगत् का नियम चेतन जगत् पर लागू नहीं होता। हम न नियति को स्वीकार करते हैं और न अनियति को स्वीकार करते हैं। एकांत स्वीकृति किसी को नहीं दी जा सकती। इस दुनियां में नियति भी है और अनियति भी है। यहां कुछ नियत है, कुछ अनियत है। नियत और अनियत का संतुलन होता है तो सारी व्यवस्थाएं ठीक चलती हैं। वे अस्त-व्यस्त नहीं होतीं। जहां केवल नियत को स्वीकार कर लिया जाता है और जब अनियत बातें सामने आती हैं तब आदमी गड़बड़ा जाता है, भ्रम में पड़ जाता है। जहां केवल अनियत की स्वीकृति होती है, वहां भी कई कठिनाइयां सामने आती है। आदमी मोह में फंस जाता है।

अनेकान्त का सूत्र—सन्तुलन

अनेकान्त का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सन्तुलन। आदमी एक ओर न झुके। तराजू का एक पलड़ा एक ओर न झुके। दोनों पलड़े बराबर रहें, सन्तुलित रहें। एक पलड़ा नियत का है तो दूसरा पलड़ा अनियत का है। दोनों को मानकर चलें। दुनिया में यह नहीं होता कि केवल घोड़ा हो, गधा न हो। घोड़ा है तो गधा भी रहेगा। गधा है तो घोड़ा भी रहेगा। एक ओर घोड़ा और एक ओर गधा—दोनों को साथ में लेकर चलना है। दुनिया का स्वभाव है—दोनों बातें साथ-साथ चलें।

नियंत्रण : अनियंत्रण

कुछ लोग उलझ जाते हैं। वे कहते हैं—नियंत्रण नहीं होना चाहिए। सब कुछ मुक्त और नियन्त्रण-विहीन। कुछ लोग कहते हैं—नियंत्रण बहुत आवश्यक है। सब कुछ नियन्त्रित होना चाहिए। दोनों एकांगी हैं। एकांगिता से सन्तुलन बिगड़ता है। जहां सन्तुलन नहीं रहता, परिणाम बुरे होते हैं।

नियन्त्रण को सर्वथा अस्वीकार करना भी अच्छा नहीं है और सर्वथा स्वीकार करना भी अच्छा नहीं है। अनियन्त्रण को सर्वथा स्वीकार करना भी अच्छा नहीं है और सर्वथा अस्वीकार करना भी अच्छा नहीं है। दोनों का सन्तुलन आवश्यक है।

शरीर में दो प्रकार का नाड़ी-संस्थान है। एक है स्वत: चालित नाड़ी-संस्थान। यह है ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान। दूसरा है—अनैच्छिक नाड़ी-संस्थान।

मैं चाहूं तो अंगुली को हिला सकता हूं और न चाहूं तो उसे बन्द कर सकता हूं। यह नाड़ी-संस्थान मन से नियन्त्रित होता है। यह ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान है।

अनैच्छिक नाड़ी-संस्थान अपने आप काम करता है। मन का उस पर नियन्त्रण नहीं होता। मन चाहे कि हृदय स्पन्दन करे तो करे और न चाहे तो न करे—यह कभी नहीं हो सकता। साधना के विशेष प्रयोगों की बात को हम छोड़ दें, अन्यथा हृदय का स्पन्दित होना मन के वश में नहीं है। साधना के विशेष प्रयोगों के द्वारा पूरे नाड़ी-संस्थान पर नियन्त्रण पाया जा सकता है, पर यह विशेष स्थिति है, सामान्य स्थिति नहीं है। सामान्य बात है कि रक्त अपनी गति से पूरे शरीर में संचरण करता है हृदय अपनी गति से स्पन्दन करता है, धड़कता है। वह रक्त को फेंकता है, पंपिंग करता है। फेफड़ा रक्त का शोधन करता है। जितने भी ये ओटोनोमस नर्वस् हैं, अवयव हैं, वे सभी अपनी गति से काम करते हैं। मन का नियन्त्रण उन पर नहीं है और वह मान्य भी नहीं है।

हमारे शरीर में दोनों व्यवस्थाएं हैं। नियन्त्रण की भी व्यवस्था है और अनियन्त्रण

की भी व्यवस्था है। बच्चे पर नियन्त्रण होता है। पल-पल उसका ध्यान रखना पड़ता है। परन्तु जब वह १८-२० वर्ष का हो जाता है तब नियन्त्रण का पहलू बदल जाता है। फिर उतना नियन्त्रण अपेक्षित नहीं लगता।

नियन्त्रण और अनियन्त्रण—दोनों सापेक्ष है। बड़ा हो जाने पर भी यदि बुद्धि और विवेक का जागरण नहीं है तो नियन्त्रण जरूरी होता है। बुद्धि और विवेक के जागने पर नियन्त्रण ढीला हो जाता है, समाप्त हो जाता है। इन्द्रियों पर भी यह सापेक्ष सिद्धांत लागू होता है। इन्द्रियों पर नियंत्रण करना आवश्यक होता है और नियन्त्रण करना अनावश्यक भी होता है। जब तक वृत्तियां शांत नहीं होतीं, तब तक इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है। जब वृतियां शांत हो जाती हैं तब इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक नहीं होता। आंख बन्द करना जरूरी नहीं है। किन्तु जब दृष्टि बहुत कष्ट देती है तब आंख बंद करना आवश्यक हो जाता है। पर्दा-प्रथा इसलिए चली कि आंख पर नियन्त्रण हो। आज स्त्रियां पर्दा करती हैं, किन्तु रामायणकालीन समाज-व्यवस्था में राक्षस पुरुष पर्दा करते थे। स्त्री को पर्दे की क्या जरूरत है? अनियन्त्रण तो मनुष्य में है और पर्दा करें स्त्रियां! यह कैसी विडम्बना! बीमार है कोई और दवा ले कोई। पर्दा वह करे जिसका अपने आप पर नियन्त्रण नहीं है। आंख में विकार है तो पर्दा आवश्यक है। सम्भव है आज मनुष्यों की अपेक्षा उस समय के राक्षसों ने समझदारी से काम लिया था। उन्होंने पर्दे की व्यवस्था पुरुषों के लिए की, स्त्रियों के लिए नहीं की।

नियन्त्रण जरूरी है जब वृत्तियां शांत न हों। जब वृत्तियां शांत हो जाएं तब आंख खुली रहे, कान खुले रहें, सब कुछ खुला रहे, कोई खतरा नहीं होता। कोई नियन्त्रण या नियम अपेक्षित नहीं है तब।

आगम साहित्य में कल्प की व्यवस्था है। जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि की व्यवस्था है। कोई साधक साधना शुरू करता है। इसके लिए नियमों की व्यवस्था है। व्यवस्थाएं प्रारम्भ में होती है। प्रारम्भ में व्यवस्थाएं अधिक होती हैं, आंतरिकता कम। जैसे-जैसे साधना का विकास होता है, व्यवस्था कम होती चली जाती है और आंतरिकता बढ़ती चली जाती है। एक वर्ष का साधक जितने नियमों का पालन करता है, उतने नियम पचास वर्ष के साधक के लिए नहीं होते। साधना करते-करते साधक कल्पातीत अवस्था में पहुंच जाता है। वह कल्प से अतीत हो जाता है, वह व्यवस्था और नियमों से अतीत हो जाता है। उसके लिए कोई आचार-संहिता नहीं होती। उसके लिए कोई बाह्य नियन्त्रण, नियमों का नियन्त्रण नहीं होता। वह सर्वथा

मुक्त, अनियन्त्रित और स्वतंत्र हो जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा—**'कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।'** जो वीतराग हो जाता है, वह किसी नियम से बंधा भी नहीं होता और मुक्त भी नहीं होता। उस पर कोई नियन्त्रण नहीं होता, पर वह अनुशासन से मुक्त नहीं होता। वह न बंधा होता है और न मुक्त। वह बाह्य नियमों से बंधा हुआ नहीं होता और आत्मानुशासन से मुक्त भी नहीं होता। बन्धन लाने वाले सारे बीज उसके समाप्त हो जाते हैं। बंधन लाने वाली सारी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं।

उसके लिए नियन्त्रण अपेक्षित नहीं होता।

नियन्त्रण को सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता और अनियन्त्रण को सर्वथा अस्वीकार नही किया जा सकता। एकांगिता स्वीकार्य नहीं हो सकती।

कुछ लोग कहते हैं—"वृत्तियों का नियन्त्रण मत करो। इन्द्रियों का नियन्त्रण मत करो। इच्छाओं का दमन मत करो। मुक्त भोग करो। जो मन में आए वैसा करो। एक क्षण ऐसा आएगा कि वृत्तियों से मुक्त हो जाओगे।"

यह बात बहुत प्रिय लगती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि नियंत्रण न हो। मुक्त भोग का प्रचलन हो। किन्तु आज तक का इतिहास बताता है कि जहां स्वच्छंदता बढ़ती है, वहां मनुष्य जाति का पतन होता है। अनियामकता, स्वच्छंदचारिता मनुष्य को आगे नहीं बढ़ाती। अनियन्त्रण की बात उस भूमिका में आती है जहां बाहर से विकार समाप्त हो जाते हैं, बाहर से दोष शांत हो जाते हैं। बाहर में बैठा शत्रु सामने नहीं होता और यह तब होता है जब भीतर का शत्रु शांत हो जाए, भीतर की वृत्तियां शांत हो जाएं। उस स्थिति में बाहर का कुछ बचता ही नहीं। एक ज्ञानी की भूमिका अज्ञानी कैसे निभा सकता है? बात एक ही है, ज्ञानी उसका एक अर्थ करता है और अज्ञानी उसका दूसरा अर्थ करता है। घटना एक होती है, सिद्धान्त एक होता है, किन्तु ज्ञानी उसको दूसरे अर्थ में लेता है और अज्ञानी उसके दूसरे अर्थ में ग्रहण करता है।

प्रज्ञा का जागरण : अहिंसा का विकास

एक कथा है। तीन विद्यार्थी एक गुरु के पास शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। गुरु ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। तीनों को एक-एक आटे का मुर्गा देकर कहा—जहां कोई न देखे, वहां उसकी गर्दन को तोड़कर ले आओ। राजकुमार भी गया। उपाध्याय का पुत्र भी गया और नारद भी गया। तीनों मुर्गा लेकर चले गए। राजकुमार जंगल में गया। सोचा—यहां एकान्त है। कौन देखता है? गर्दन तोड़कर घर आ गया।

उपाध्याय का पुत्र एकान्त में गया। सोचा, खुले में तो कोई पंछी देख सकता है। वह गुफा में गया। मुर्गे की गर्दन तोड़कर घर आ गया। नारद गया। बहुत दूर जंगल में। अत्यन्त निर्जन स्थान में पहुंचा। गहरी गुफा में गया। सघन अंधकार था। सोचा, कोई नहीं देखता यहां। ज्योंही उसने मुर्गे की गर्दन पर हाथ रखा, उसने सोचा, अरे, मेरी आत्मा तो देख रही है। गुरु का आदेश है कि गर्दन वहां तोड़ना जहां कोई न देखे। यहां दूसरा कोई नहीं है। पर मैं देख रहा हूं। मेरी आत्मा तो देख रही है। परमात्मा देख रहा है। मुक्त आत्मा तो देख रहा है। वह मुर्गे को लेकर घर आ गया।

दूसरे दिन तीनों विद्यार्थी उपाध्याय के समक्ष उपस्थित हुए। उपाध्याय ने कहा—आटे का मुर्गा था, अचेतन था, चेतन नहीं था। तीनों ने मार डाला? राजकुमार बोला—"यह रही गर्दन और यह रहा धड़। मैंने जंगल में जाकर इसकी गर्दन मरोड़ी है।" उपाध्याय का पुत्र बोला—"मैंने एकान्त और निर्जन गुफा में जाकर मारा है। वहां पंछी भी नहीं देख पाए। आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है।" नारद बोला—"गुरुदेव! मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका। मैं गहन जंगल में गया। कोसों दूर चला गया। वहां न आदमी थे, न पशु-पक्षी। कोई नहीं था। मैं सघन गुफा में गया। वहां केवल अंधेरा था। मैंने वहां मुर्गे को मारना चाहा। पर तत्काल मुझे ध्यान आया कि कोई नहीं देखता पर स्वयं की आत्मा तो देखती है, परमात्मा तो देखता है। वह सर्वदर्शी हैं। ऐसा स्थान कहां मिल सकता है, जहां परमात्मा न देखे। मैं लाचार हूं। घर लौट आया।"

उपाध्याय ने नारद की प्रशंसा की।

जिस व्यक्ति में यह प्रज्ञा जाग जाती है कि आत्मा सर्वत्र देखती है, परमात्मा सर्वत्र देखता है, वह ज्ञानी होता है। वह इस प्रज्ञा से अहिंसा का विकास कर लेता है। अज्ञानी पुरुष इसी का दुरुपयोग कर लेता है। जब सन्तुलन नहीं होता तब दुरुपयोग होता है। उपयोग और दुरुपयोग—दोनों होते हैं।

सिद्धान्त का दुरुपयोग

एक महिला कपड़े पहनकर स्नान करती थी। एक बहन ने कहा—बहन! कपड़े पहनकर स्नान कर रही हो? कपड़े गीले हो जाएंगे। ऐसा नहीं करना चाहिए। एकान्त में कपड़े खोलकर स्नान किया करो। उसने कहा—"अरे! तुम नहीं जानतीं। शास्त्रों का कथन है कि परमात्मा सर्वदर्शी है। वह सबको देखता है, सर्वत्र देखता है। उसके सामने कपड़े कैसे खोलूं? उसके सामने नंगे रूप में कैसे आऊँ?

लज्जावश मैं कपड़े पहनकर स्नान कर रही हूं।"

जब ज्ञान या प्रज्ञा का जागरण नहीं होता तब सिद्धांत का दुरुपयोग भी हो जाता है। यदि सन्तुलन हो तो ऐसी स्थिति नहीं बनती। संतुलन से सापेक्षदृष्टि का विकास होता है, एकांगीदृष्टि नहीं पनपती। तराजू के दोनों पलड़े बराबर रहते हैं, न नीचे न ऊपर।

अनेकान्तदृष्टि वाला व्यक्ति किसी भी बात को एकांगी मानकर उस महिला की भांति सिद्धान्त तो तोड़-मरोड़कर नहीं जानता, नहीं देखता। वह अपने व्यवहार को विघटित नहीं करता, किन्तु नारद की भांति उसका उपयोग करता है और उसकी सार्थकता प्रमाणित करता है। यह सन्तुलन से ही संभव है।

अनेकान्त की अनुपम देन

अनेकान्त ने विश्व के नियमों की व्याख्या में संतुलन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। आचार-विचार के क्षेत्र में भी अनेकान्त की अनुपम देन हैं। संयम और समता भी उसी के फलित हैं। यदि अनेकान्त की दृष्टि न हो तो संयम की कोई जरूरत नहीं है। यदि अनेकान्त की दृष्टि नहीं हो तो समता की कोई आवश्यकता नहीं है। हम अनेकान्त के द्वारा इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं कि विरोधी युगलों का अस्तित्व एक सच्चाई है। सब ससीम हैं, असीम कोई नहीं है इस दुनिया में। समता की जरूरत होती है। लाभ और अलाभ—दोनों को स्वीकार करते हैं। यह जीवन का शाश्वत नियम है कि लाभ होगा तो अलाभ भी होगा, अलाभ होगा तो लाभ भी होगा। दोनों में कोई दूरी नहीं है। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। साथ-साथ चलते हैं। लाभ के साथ अलाभ भी जुड़ा रहता है और अलाभ के साथ लाभ जुड़ा रहता है। दोनों एक हैं। केवल घटना या काल का अन्तर है, केवल देश का अन्तर है। सुख और दुःख में कोई दूरी नहीं है। मृत्यु और जीवन में कोई दूरी नहीं है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। कभी सुख का अनुभव होता है, कभी दुःख का अनुभव होता है। कभी सुख उभरकर जीवन को भर देता है और कभी दुःख उभरकर जीवन को विषाक्त बना देता है। रहट की घड़ियों में दूरी कहां है। उसकी एक माला है। घड़ियां पानी भर कर आती हैं। 'खाली होकर चली जाती हैं।' पानी से भरी और पानी से खाली घड़ियां आती जाती हैं। दोनों साथ-साथ चलती हैं। सुख-दुःख साथ-साथ चल रहे हैं। जीवन और मरण—दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक भी क्षण ऐसा नहीं होता जो केवल जीवन का क्षण हो या केवल मृत्यु का क्षण हो। जीवन का पहला क्षण ही मृत्यु का पहला क्षण होता है। मृत्यु ७०-८० वर्ष बाद आने वाली घटना

नहीं है। यह पहले क्षण में होने वाली घटना है। जीवन के पहले क्षण के साथ-साथ मौत की घटना भी घटित होती है। जिसकी प्रथम क्षण में मृत्यु नहीं होती, वह अमर बन जाता है, वह कभी नहीं मरता। पहले क्षण में जो नहीं मरता, दूसरा क्षण उसे नहीं मार सकता। पहले क्षण में जो उत्पन्न नहीं होता, दूसरा क्षण उसे कभी पैदा नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षण उत्पाद का अनुभव करता है। उत्पाद और विनाश—दोनों साथ-साथ होते हैं। निन्दा और प्रशंसा—दोनों साथ-साथ चलते हैं। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसकी केवल निन्दा हुई हो और प्रशंसा न हुई हो या केवल प्रशंसा हुई हो और निन्दा न हुई हो। दोनों साथ-साथ होते हैं। सन्तुलन बराबर चलता है।

लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण—ये सब साथ चलते हैं। समस्या तब उभरती है जब हम इनके साथ-साथ नहीं चलते। यदि मनुष्य इनके साथ चलना सीख जाए तो पूरा अध्यात्मवादी बन जाए, पूरी अनेकान्त की दृष्टि जाग जाए। ऐसा होता है तो उसकी समस्याएं समाहित हो जाती हैं। परन्तु आदमी बड़ा विचित्र है। वह इनके साथ चलना नहीं चाहता। इनसे हटकर चलना चाहता है। वह चाहता है, लाभ हो परन्तु अलाभ कभी न हो, सुख हो पर दुःख न हो; जिन्दा रहूं, मरण कभी न घटे; प्रशंसा हो, निन्दा कभी न हो। वह सार्वभौम नियम को भुला देता है। द्वन्द्व की दुनियां में अकेला कुछ भी नहीं रहता। सब युगल चलता है। आदमी नासमझ है। वह अनेकान्त का अतिक्रमण कर एकान्त चाहता है। जब जगत् का एक नियम है, प्रकृति का नियम एक है, उसका अतिक्रमण कैसे हो सकता है? फिर भी आदमी एकांगी दृष्टिकोण को अपना कर एक को चाहता है, दूसरे को नहीं चाहता। लाभ चाहता है, अलाभ नहीं चाहता। प्रशंसा चाहता है, निन्दा नहीं चाहता। वह इस प्रकार समस्याओं के भार से दबता चला जाता है और एक दिन टूट जाता है।

समता, संयम और संतुलन

अनेकान्त का सूत्र है—समता और सन्तुलन। लाभ इष्ट है तो अलाभ के लिए भी तैयार रहो। प्रशंसा इष्ट है तो निन्दा के लिए भी तैयार रहो। चाहो तो दोनों को चाहो और न चाहो तो दोनों को मत चाहो। एक को चाहना निरी मूर्खता है। जीवन को चाहो तो मृत्यु को भी चाहो। सुख को चाहो तो दुःख को भी चाहो। यदि दोनों को न चाहो तो समता रखो। इसी अनेकान्त के आधार पर जीवन बिता सकोगे—अनेकान्त तब तुम्हारे जीवन का क्षण होगा। वहां कोई गड़बड़ी नहीं होगी, शान्ति के साथ तुम जी सकोगे।

द्वन्द्व की दुनिया में एक से काम नहीं चलता। आदमी का स्वभाव है कि वह एक बात पर अधिक बल देता है और दूसरी बात को गौण कर देता है। यह तब होता है जब वह अपने प्रति नहीं जागता, अपने आपको नहीं जानता। जब तक अपने आपको नहीं जानता, अपने प्रति नहीं जागता, व्यवहार को जानता है और व्यवहार के प्रति जागता है, तब तक इस नियम को कभी नहीं लांघा जा सकता। हमारी एक भूमिका है जहां संयम और समता सिद्ध होती है। संयम और समता के सिद्ध होने पर दूसरा नियम लागू हो जाता है।

सर्व सर्वात्मकं—अनेकान्त को अमान्य

सभी नियम सापेक्ष होते हैं। कोई भी नियम निरपेक्ष नहीं होते। उसकी भी एक सीमा होती है। किसी भी नियम का एक-छत्र शासन नहीं होता। सब कुछ सीमित है। धर्म और ध्यान को हम महत्त्व देते हैं और कह देते है कि इनसे समस्याएं समाहित हो जाएंगी। यह भ्रान्त है। न धर्म के द्वारा सारी समस्याएं समाहित होती हैं और न ध्यान के द्वारा। उसकी उपयोगिता अपनी-अपनी सीमा में है। धन की समस्या ध्यान से नहीं सुलझ सकती। धर्म से खेती या अर्थ की समस्या नहीं सुलझ सकती। ध्यान से या धर्म से सब कुछ हो जाएगा, यह भ्रान्तभरी धारणा है।

हम मर्यादाओं को न भूलें। प्रत्येक की अपनी-अपनी मर्यादा है। यही अनेकान्त का मंत्र है। सीमा-बोध बहुत आवश्यक होता है। ध्यान के द्वारा समस्याएं सुलझती है, किन्तु वे ही समस्याएं सुलझती हैं जो ध्यान की सीमा में आती हैं। बड़े से बड़े ध्यानी को भी खाना पड़ता है, पानी पीना पड़ता है। कपड़े पहनने पड़ते हैं। समय पर औषधियां लेना पड़ती हैं। प्रसंगवश बता दूं कि आयुर्वेद का विकास क्यों हुआ?

बहुत बड़ी एक घटना है। एक बार हिमालय की गोद में तपस्या करने वाले अनेक तपस्वी बीमार हो गए। प्रश्न उठा—सब संयमी हैं, ब्रह्मचारी हैं, तपस्वी हैं, फिर रोग क्यों? कारण की खोज प्रारम्भ हुई। ऋषियों की सभा हुई। भारद्वाज ऋषि को कहा गया—इन्द्र के पास जाकर इस बीमारी का कारण पूछो। भारद्वाज ऋषि इन्द्र के पास गए। इन्द्र के सामने समस्या रखी और समाधान लाए।

कोई भी बात एकांगी दृष्टि से स्वीकार्य नहीं होती। यह कभी न माना जाए कि ध्यान से सारी बीमारियां मिट जाती हैं। हम सीमा को समझें। यह निश्चित है कि ध्यान के द्वारा मन की सारी बीमारियां मिट सकती हैं। कषाय से उत्पन्न सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। जब कषाय की बीमारी मिटती है तब मन की बीमारी भी समाप्त हो जाती है। जब मन की बीमारी समाप्त होती है तब मन की बीमारी से

होने वाली शरीर की बीमारी भी समाप्त हो जाती है। किन्तु ध्यान से सभी बीमारियों का उन्मूलन कैसे हो सकता है? यह सम्भव नहीं है। मच्छर काटा। मलेरिया ज्वर हो गया। वह मन की बीमारी तो नहीं हैं। ध्यान से यह कैसे मिटेगी।

"सर्व सर्वात्मकम्", "असर्व असर्वात्मकम्"—सबसे सब कुछ हो जाता है या एक से सब कुछ हो जाता है। अनेकान्त इसे सच्चाई नहीं मानता। एक में सब कुछ करने की क्षमता नहीं होती। सब में सब कुछ करने की क्षमता नहीं होती। मर्यादा का या सीमा का बोध बहुत जरूरी है।

प्रत्येक साधना की सीमा है। प्रत्येक कार्य की अपनी सीमा है। सीमा-बोध होने पर कोई कठिनाई नहीं होती।

कुछेक व्यक्ति एकांगी दृष्टिकोण से सोचते हैं कि ध्यान का प्रयोजन ही क्या है? निकम्मे होकर बैठने से क्या फलित होता है? यह एकांगी दृष्टिकोण है। एकांगी दृष्टिकोण में प्रत्येक समस्या विकट बन जाती है। जिस व्यक्ति ने ध्यान का अनुभव ही नहीं किया, जिसने ध्यान में प्रवेश ही नहीं किया, जिसने ध्यान का मूल्यांकन ही नहीं किया, उसके लिए ध्यान निठल्लापन है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिस व्यक्ति ने इसका मूल्यांकन और अभ्यास किया है उसे यह लगता है कि जीवन की जितनी सार्थकता और सफलता है, वह है ध्यान। ध्यान से सारी शक्तियां जाग जाती हैं।

तीसरी दृष्टि—अपनी दृष्टि

जब मैं अनेकान्त की व्यख्या कर रहा हूं और अनेकान्त को एक जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं तो हमें दोनों दृष्टियों से देखना होगा। केवल दोनों दृष्टियों से ही नहीं, किन्तु एक तीसरी दृष्टि से भी देखना होगा। वह तीसरी दृष्टि होगी अपनी दृष्टि। उसका अर्थ है—द्वन्द्व को मत देखो। द्वन्द्व से परे भी कुछ है, उसे देखो। लाभ और अलाभ के द्वन्द्व में जीने वाला कभी समस्या को नहीं सुलझा सकता है। समस्या को वही व्यक्ति सुलझा सकता है जो लाभ और अलाभ से परे की बात देखता है, तीसरी दृष्टि से देखता है। वह है समता की बात। इससे लाभ और अलाभ नीचे रह जाता है। उससे आगे की भूमिका लाभातीत और अलाभातीत की भूमिका है। उस स्थिति में ये द्वन्द्व नहीं सताते, उनका अर्थ समाप्त हो जाता है। लाभ और अलाभ ये दोनों शब्द भी समाप्त हो जाते हैं। वहां केवल अनुभव बचता है, केवल चैतन्य रह जाता है।

मृत्यु से अभय कौन?

मौत से हर व्यक्ति घबड़ाता है। उसका नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु जिसने संयम को समझ लिया, जिसने समता को साध लिया, वह मौत के भय से बच जाता है। जो व्यक्ति समाधिमरण की तैयारी में लग जाते हैं, मौत को निमंत्रण देकर चलते हैं, वे मौत से कभी नहीं घबराते। वे मौत के सम्मुख जाते हैं, इससे घबड़ाते नहीं। यह संभव तभी होता है। जब वह जीवन और मृत्यु—इन दोनों सीमाओं से परे तीसरी सीमा में प्रवेश कर लेता है।

यह स्वाभाविक है कि आदमी मरते-मरते भी जीवित रहना चाहता है। उसमें घनी जिजीविषा होती है। वह मरने से बहुत डरता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो मौत को निमंत्रण देते हैं, मौत का आह्वान करते हैं और मौत का प्रसन्नता से वरण करते हैं।

प्रश्न होता है कि चेतना का परिवर्तन कैसे होता है? जब जीवन और मृत्यु की सीमा समाप्त हो जाती है वहां से समता और संयम की सीमा प्रारम्भ होती है। उस सीमा में चेतना बदल जाती है, चित्त बदल जाता है।

अनेकान्त का फलित

अनेकान्त से फलित होता है सन्तुलन। अनेकान्त से फलित होता है संयम। अनेकान्त से फलित होता है साम्य, समता का दृष्टिकोण। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनेकान्त कोरा तत्त्ववाद का प्रतिपादक नहीं है, यह जीवन का दर्शन है। अध्यात्म का पूरा व्यवहार, अध्यात्म का प्रत्येक उन्मेष अनेकान्त के साथ चलता है। अनेकान्त के बिना उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। उसकी साधना भी नहीं की जा सकती। लोग एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उससे बहुत भ्रम होता है। बहुत सारे लोग उसमें उलझ जाते हैं। इस दुनियां में सुलझाने वाले कम हैं, उलझाने वाले अधिक हैं।

एक राजा ने एक बन्दी को मारने का आदेश दिया। बन्दी ने सोचा कि अब मरना ही है तो डरना क्या? वह राजा को गालियां देने लगा। राजा कुछ भी समझ नहीं सका। उसने मंत्री से पूछा—मंत्रीवर! यह क्या कह रहा है? मंत्री बोला—महाराज! यह कह रहा है कि जो क्षमा करना जानता है, वह प्रभु का प्यारा होता है। राजा ने तत्काल कहा—अरे! ऐसी बात है, तो इसे तत्काल मुक्त कर दो।

एक दूसरा मंत्री भी वहीं बैठा था। वह पहले मंत्री से द्वेष रखता है, ईर्ष्या करता था। उसने कहा—राजन्! इस मंत्री ने झूठ कहा है। यह बन्दी आपको गालियां

बक रहा था और मंत्री ने आपको कह दिया कि जो क्षमा करता है, वह प्रभु का प्यारा होता है। कितना झूठ ! सरासर झूठ। राजा बोला—मंत्रीवर ! उसका झूठ भी मुझे बहुत पसन्द आया तुम्हारी सच्चाई से। क्योंकि उसके झूठ में भी भलाई है और तुम्हारी सच्चाई में भी द्वेष झलक रहा है, ईर्ष्या झलक रही है।

बहुत बार ऐसा होता है। आदमी दूसरे को विघ्न में डालना चाहता है। वह दूसरे की भलाई नहीं चाहता। वह दूसरे को फंसाना चाहता है। यह फंसाने वाली बात सिद्धांत के क्षेत्र में भी चलती है, आचार और व्यवहार के क्षेत्र में भी चलती है। आदमी अपनी दुर्बलता को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह उस दुर्बलता को सिद्धांत का रूप देकर प्रस्तुत करता है और ऐसा दिखावा करता है कि किसी को वह ज्ञात न हो कि यह उसकी दुर्बलता है। वह कहता है—यह बहुत बड़ा सिद्धांत है। इसका पालन होने पर सारी गुत्थियां सुलझ जाएंगी। आदमी ऐसी बातों में उलझ जाता है। उलझाने वाली बात कभी-कभी सच भी लगती है। पर वह वास्तव में होती है झूठ। भगवान महावीर ने कहा—दूसरों को ताप पहुंचाने वाली, दूसरों का गला काटने वाली भाषा यदि सच है तो भी झूठ है, क्योंकि वह दूसरों का अहित करती है। वाणी अपने आप में सच या झूठ नहीं होती। किन्तु वाणी के पीछे जो प्राण की धारा प्रवाहित होती है, वह यदि मैली है तो वह वाणी सच्चाई को भी बिगाड़ देती है और उसे झूठ बना देती है।

इन सारी समस्याओं को समझने के लिए, इनसे निपटने के लिए हमें अनेकान्त की दृष्टि और इससे फलित होने वाले संतुलन के सिद्धांत को जानना होगा, बुद्धिगम्य कर उसका व्यवहार भी करना होगा। ध्यान करने वाला प्रत्येक साधक अपनी दृष्टि को सन्तुलित बनाए, आचार और व्यवहार को सन्तुलित बनाए, प्रत्येक कर्म को संतुलित बनाए। जिस दिन सारे चैतन्य में यह सन्तुलन की घटना घटित होगी उस क्षण को मैं परमात्मा के साक्षात्कार का क्षण मानूंगा।

प्रवचन ९

संकेतिका

१. जीवन जितना दृश्य है उतना ही नहीं है।

२. द्रव्य है—न बदलने वाला।

पर्याय है—बदलने वाला।

३. पर्याय के दो प्रकार—सामूहिक और यौगिक।

४. आदमी पर्यायों का जीवन अधिक जीता है।

५. जानने से बदलता है। भोगने से बढ़ता है।

परिवर्तन

शाश्वत् है परिवर्तन

ध्यान की साधना ज्योति की साधना है, प्रकाश की साधना है ! मनुष्य प्रकाश चाहता है। वह कभी अन्धकार नहीं चाहता। इसलिए वह प्रकाश की साधना करता है। वह चाहता है कि भीतर रहा हुआ तमस् भाग जाये। अन्धकार मिट जाये। जीवन में प्रकाश जैसे-जैसे उतरता है, वैसे-वैसे अन्धकार भाग जाता है। जीवन में प्रकाश होना भी संभव हैं और अन्धकार होना भी संभव है। दोनों संभव हैं। और इसलिए संभव है कि विश्व का सार्वभौम नियम है परिवर्तन। जैसे अपरिवर्तन एक शाश्वत नियम है, वैसे ही परिवर्तन भी शाश्वत नियम है।

अनेकान्त की स्वीकृति : द्रव्य और पर्याय

अनेकान्त ने तत्त्व की व्याख्या की। तत्त्व के दो पहलू हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। द्रव्य मूल में होता है और पर्याय अपर होता है। परिवर्तन के बिना कोई अपरिवर्तनीय नहीं होता और अपरिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक मूल में रहता है और एक फूल में रहता है। फूल हमें दिख जाता है। मूल गहरे में होता है। सामने नहीं दिखता कभी-कभी कुछेक लोग मूल को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। मूल को अस्वीकार करते हैं। कभी-कभी कुछेक लोग मूल पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं और सामने दीखने वाले फूल को अस्वीकार कर देतें हैं। यह एकांगी दृष्टिकोण है।

अनेकान्त ने दोनों को स्वीकृति दी। मूल का भी मूल्य है और फूल का भी मूल्य है। मूल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और फूल को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछेक लोग फूल को नहीं, मूल को ही उखाड़ देते हैं।

शहर के पास सुन्दर बगीचा था। उसमें एक स्थान पर लिखा था—फूल तोड़ना मना है। एक बालक आया। उसने मूल को ही उखाड़ना चाहा। माली ने देख लिया। वह दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—अरे ! क्या कर रहे हो ? देखो क्या

लिखा है ? बालक ने कहा—लिखा हुआ पढ़ लिया। लिखा है—फूल तोड़ना मना है। मैं फूल नहीं मूल को ही उखाड़ रहा हूं।

जब मूल को उखाड़ दिया जाता है तब फूल के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं आता। हम मूल को अस्वीकृत नहीं कर सकते। हमारा जीवन एक फूल है, दिखाई देता है। वह जीवन अनबूझ पहेली बना हुआ है। जीवन की अनेक व्याख्याएं हुई है, किन्तु बहुत सारी व्याख्याएं फूल की व्याख्याएं हैं। फूल तक पहुंचने वाली व्याख्याएं हैं। मूल तक नहीं जाने वाली व्याख्या अधूरी होती है। फूल खिलता है, कुम्हला जाता है, गिर जाता है। आज खिलता है, कल कुम्हला जाता है। सारा परिवर्तन होता जाता है। मूल की व्याख्या किए बिना केवल फूल की व्याख्या करना बहुत खतरनाक होता है।

जीवन का आधार—ज्ञान

हम जीवन को समझें। जीवन क्या है ? जो दीख रहा है, वही केवल जीवन नहीं है। जीवन के मूल में दो तत्त्व निरन्तर काम करते रहते हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। ज्ञान द्रव्य भी है और पर्याय भी है। ज्ञान एक भी है और अनेक भी है। ज्ञान स्वावलम्बी भी है और परावलम्बी भी है। ज्ञान स्वावलम्बी है। उसमें अपने आपमें जानने की निरन्तर क्रिया होती रहती है। ज्ञान जब दो के रूप में बदलता है तब परावलम्बी बन जाता है।

अपने आप में जानने की क्रिया की अपेक्षा से ज्ञान एक है। दो के आधार पर बदलते हुए पर्यायों को जानने वाला ज्ञान अनेक बन जाता है।

ज्ञान नित्य है अपने स्वरूप में। बदलते हुए पर्यायों को जानने वाला ज्ञान अनित्य हो जाता है।

हमारे जीवन का पहला पक्ष है—ज्ञान। जीवन का मूल आधार है ज्ञान। जीवन का दूसरा पक्ष है पर्याय। वह निरन्तर बदलता रहता है। पर्याय एक प्रकार का नहीं होता। परिवर्तन एक प्रकार का नहीं होता। उसके दो प्रकार हैं। एक है स्वाभाविक परिवर्तन, सहज में होने वाला परिवर्तन और दूसरा है यौगिक परिवर्तन, निमित्तों से होने वाला परिवर्तन, संयोग और सम्बन्धों से फलित होने वाला परिवर्तन। स्वाभाविक परिवर्तन पर किसी का अधिकार नहीं होता। वह स्वाभाविक रूप से घटित होता है। न उसे रोका जा सकता है और न उसे बदला जा सकता है। वह पदार्थ का अपना अस्तित्व है। वह अस्तित्व से जुड़ा हुआ परिवर्तन है। वह परिवर्तन इसलिए होता है कि पदार्थ दूसरे क्षण में अपना अस्तित्व बनाए रख सके। पहले क्षण का

पदार्थ दूसरे क्षण में बना रह सके इसके लिए परिवर्तन अपेक्षित होता है। यदि कोई भी पदार्थ क्षण में न बदले तब उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। पदार्थ क्षण-क्षण बदलता है। यह स्वाभाविक परिवर्तन है। यह स्वतःचालित पर्याय है। यह पदार्थ का स्वतः चालित नाड़ी-संस्थान है। दूसरा है ऐच्छिक पर्याय, निमित्तों से होने वाला पर्याय।

परिवर्तन का हेतु—ध्यान

ध्यान की साधना परिवर्तन की साधना है, बदलने की साधना है। ध्यान करने वाला साधक बदलने के लिए आता है। अगर बदलने कि बात न हो तो ध्यान के प्रति इतना आकर्षण नहीं होता। आदमी बदलना चाहता है।

कल ही एक भाई ने कहा—मुझे क्रोध बहुत आता है। मैं बदलना चाहता हूं। मेरे मित्र ने कहा—तुम ध्यान साधना में चले जाओ, बदलने लग जाओगे। इसीलिए ध्यान साधना में बिना निमन्त्रण ही सैकड़ों लोग आते है। आदमी में बदलने की मनोवृत्ति होती है। कोई भी एक रूप रहना नहीं चाहता, बदलना चाहता है। कोई भी बच्चे के रूप में रहना नहीं चाहता, युवक बनना चाहता है। युवक भी सदा युवक नहीं रहता, बूढ़ा होता है। जैसे यौवन का अपना स्वाद है वैसे ही बुढ़ापे का अपना मजा है,स्वाद है। जिस व्यक्ति ने बुढ़ापे का अनुभव नहीं किया, बुढ़ापे के सुख का अनुभव नहीं किया, वह नहीं जान सकता, बुढ़ापे में क्या स्वाद है। यौवन में जो हलचल सताती है,जो समस्याएं परितप्त करती है, अपरिपक्वता के कारण जो कठिनाइयां आती हैं, वे सब बुढ़ापे की सीमा में प्रवेश करते ही समाप्त हो जाती हैं। वह तब जान पाता है कि बुढ़ापे का सुख क्या हैं? आनन्द क्या हैं? सुख न बचपन में है, न यौवन में है और न बुढ़ापे में है। यदि सुख की चाबी हस्तगत हो जाए तो बचपन में बहुत सुख है, जवानी में भी बहुत सुख है और बुढ़ापें में भी बहुत सुख है। जो बुढ़ापे तक नहीं पहुंचा, वह नहीं जान पाएगा कि बुढ़ापे में क्या सुख है? बुढ़ापे तक हम भी नहीं पहुंचे हैं अब तक, परन्तु हम उसमें होने वाले सुख को जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति हर अवस्था के अनुभव में जा सकता है, उसमें से गुजर सकता है।

दुःख यथार्थ भी अयथार्थ भी

हम परिवर्तन के सिद्धांत को समझ कर चलें। प्रत्येक आदमी परिवर्तन चाहता है। ध्यान की समूची प्रक्रिया बदलने की प्रक्रिया है। मैंने देखा—जो आदमी दसों वर्षों तक नहीं बदल पाये, वे ध्यान शिविरों में बदल गए। आदमी का स्वभाव बदलता है। आदमी की आदतें बदलती हैं। आदमी के जीवन में अनेक परेशानियां

होती हैं। क्रोध की और अहंकार की परेशानी है, भय और माया की परेशानी है। यदि हम वस्तुस्थिति में जाएं, सच्चाई के निकट जाएं तो पता चलेगा कि पच्चीस प्रतिशत दुःख यथार्थ होता है और शेष पच्चहत्तर प्रतिशत दुःख हमारे अज्ञान, हमारी धारणाओं, मान्यताओं और कल्पनाओं के कारण होता है। उसे हम भोगते हैं। यदि हम सत्य के निकट जाएं या सत्य की सीमा में प्रवेश करें तो पच्चहत्तर प्रतिशत दुःख अपने आप समाप्त हो जाता है। एक क्रोधी आदमी स्वयं दुःख पाता है। वह स्वयं ही दुःखी नहीं होता, सारे परिवार को दुःखी बना देता है।

क्रोध है आग

वास्तव में प्रत्येक आदमी बदलना चाहता है। क्रोधी आदमी स्वयं चाहे या न चाहे, परिवार वाले अवश्य चाहते है कि वह बदल जाएं, उसका क्रोध छूट जाए, क्योंकि वह सबको दुःख देता है। वह स्वयं दुःख को भोगता है। और दूसरों को भी दुःखी बनाता है। आग स्वयं जलती है और दूसरों को जलाती है। आग पर कुछ भी रखो, वह उबलने लग जाता है। आग जलती है, सारे ईंधन को जला देती है। शेष केवल राख बचती है। शिविरों में पचास प्रतिशत साधक स्वयं की प्रेरणा से आते हैं और पचास प्रतिशत आसपास की प्रेरणाओं से आते हैं। लाभ उठाए हुए लोग प्रेरणा देते हुए कहते हैं—जाओ, बदलो। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर अनेक साधक आता हैं और बदलते हैं।

कोई व्यक्ति बदलना नहीं चाहता पर परिवार वाले चाहते हैं कि वह बदले। उसके मन में अभी बदलने की जिज्ञासा पैदा नहीं हुई, पर लोग समझते हैं कि वह दुःख देता है, स्वभाव से चिड़चिड़ा है। अच्छा है वह शिविर में रहे और कुछ बदले।

यौगिक पर्याय बदले जा सकते हैं

अनेकान्त की यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि जितने यौगिक पर्याय हैं, जितने सम्पर्कों और सम्बन्धों से पर्याय बने हैं, जितने वैचारिक और नैमित्तिक अवस्थाएं हैं, वे बदल सकती हैं, उनमें परिवर्तन किया जा सकता हैं। वे हमारे वशवर्ती पर्याय हैं। हम जब उन्हें बदलना चाहें तब बदल सकते हैं, जब बदलना न चाहें तब नहीं बदल सकते। यह इच्छाचालित नाड़ी-संस्थान की तरह है। जैसे ही हमने बदलना चाहा, हम बदल जाते हैं। हमारा शरीर बदल जाता है। चित्त और मन बदल जाता है। हमारी लेश्या बदल जाती है। हमारे अध्यवसाय बदल जाते हैं। हमारा आभामंडल बदल जाता। हमारे शरीर की विद्युत बदल जाती है। शरीर

के रसायन और नाड़ी-संस्थान की क्रिया भी बदल जाती है। ग्रन्थियों का स्राव भी बदल जाता है। सब कुछ बदलता है यदि हम चाहें। यह बात हृदयंगम हो जानी चाहिए कि स्वाभाविक पर्याय को बदलना हमारे वश में नहीं, शेष सारे पर्याय बदल सकते हैं।

मनुष्य की यह धारणा है कि बदला नहीं जा सकता। आदत कभी नहीं बदलती। यह मिथ्या धारणा और अज्ञान हमारे विकास में बड़ी बाधा है। जो नियम नहीं है, हमने उसे नियम मान लिया है। यही धारणा है कि आदमी में बदलने की जिज्ञासा नहीं रही।

आदमी उड़ सकता है

एक पादरी वैज्ञानिक से बात कर रहा था। वैज्ञानिक ने कहा—आदमी आकाश में उड़ सकता है और पचास वर्ष बाद आदमी उड़ने लग जाएगा। पादरी ने कहा—तुम सर्वथा सत्य कह रहे हो। आकाश में उड़ने का अधिकार केवल देवताओं को है। आदमी आकाश में नहीं उड़ सकता। तुम आदमी के उड़ने की बात कर बाइबल तथा प्रचीन संतों का अपमान कर रहे हो। उनके कथन को झुठलाने का प्रयास कर रहे हो। जो विकास होना था वह हो चुका। जो खोज होनी थी, वह पहले ही हो चुकी है। अब कोई नई खोज नहीं हो सकती। खोज के सारे दरवाजे बन्द हैं।

ऐसी धारणा इसलिए हुई कि पादरी ने सोच लिया था कि केवल अतीत में ही सत्य खोजा जाता था, सारा खोजा जा चुका, अब सत्य शेष नहीं बचा है। धार्मिक लोगों ने मान्यता बना ली और इसी से चिपके बैठे रहें। वे विकास नहीं कर सके। धार्मिक जगत् पिछड़ गया।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उसी पादरी के दो पुत्रों ने उस चर्चा के तेंतीस वर्ष पश्चात् वायुयान का आविष्कार किया और दोनों आकाश में उड़े।

परिवर्तन एक शाश्वत नियम है। जितना सत्य खोजा गया है वह केवल समुद्र में बूंद के समान है। सत्य का समुद्र भरा पड़ा है। एक बूंद को पाकर हमने मान लिया कि सारा सत्य हस्तगत हो गया। खोज पूरी हो गई। दरवाजा बन्द हो गया। किसने खोला और किसने बन्द किया?

खोज की जिज्ञासा अनन्त हो

जैन लोग कहते हैं कि आज मोक्ष के द्वार बन्द हैं। जम्बूस्वामी ने मोक्ष के दरवाजे बन्द कर दिए। जम्बूस्वामी ने दरवाजे बन्द किए या नहीं, हमने तो सचमुच अपना दरवाजा बन्द कर दिया। किसने ताला खोला और किसने बन्द कर दिया?

कौन दरवाजे तक पहुंचा और किसने चाबी लगा दी ? किसके पास थी चाबी ? क्या कोई पहरेदार था मोक्ष के दरवाजे पर कि जब चाहा तब ताला लगा दिया और जब चाहा तब उसे खोल दिया। आचार्यश्री तुलसी ने एक बार कहा था कि जैनों ने मोक्ष की सम्भावनाओं को अस्वीकार कर धार्मिक जगत् को भौतिकवादी जैसा बना दिया। लोग आज मानकर बैठ गए हैं कि अवधिज्ञान या केवल ज्ञान नहीं हो सकता। मोक्ष नहीं हो सकता। इस मान्यता ने इनके खोज की जिज्ञासा ही समाप्त कर दी।

एक बीमार आदमी यह मानकर बैठ जाए कि वह स्वस्थ होगा ही नहीं तो वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। आग लग गई और कोई मान ले कि यह बुझाई नहीं जा सकती, तो वह आग कभी नहीं बुझेगी। आदमी पानी या रेत लाने का प्रयत्न नहीं करेगा।

एक मिथ्या मान्यता के कारण आदमी का सारा पुरुषार्थ, सारा प्रयत्न समाप्त हो जाता है। मोक्ष का दरवाजा खुला है या बन्द, ताला लगा है या नहीं लगा है, इसकी चिन्ता हम न करें। हम मानकर चलें कि आज भी मोक्ष उपलब्ध हो सकता है, केवलज्ञान और अवधिज्ञान उपलब्ध हो सकता है। जितनी संभावनाएं हैं वे सारी संभावनाएं आज फलित हो सकती हैं। आवश्यकता है केवल परम पुरुषार्थ और केवल परम प्रयत्न की। पुरुषार्थ हमारा कहां तक ले जाएगा उसकी चिन्ता न करें। परन्तु पुरुषार्थ में कभी कमी न आए। जब आदमी पहले चरण में ही निराशा से ग्रस्त हो जाता है, तब उसका दूसरा चरण उठता ही नहीं। वह अनेक समस्याओं से घिर जाता है। अपने अज्ञान, मिथ्या मान्यताओं तथा विचित्र धारणाओं के द्वारा व्यक्ति गलत निर्णय लेता है और समस्या के वात्याचक्र में फंस जाता है। भय के कारण भी ऐसा होता है। साधना में प्रवेश करता है किन्तु डरता है कि चल तो रहा हूं, न जाने क्या होगा? भय, प्रमाद, अज्ञान, आकांक्षा—ये सब साधना के विघ्न हैं। ये हमारे पर्याय नहीं बदलने देते। जो पर्याय हम जीवन में लाना चाहते हैं, वह पर्याय इनके कारण नहीं आता। अनचाहे पर्याय प्रकट होने लगते हैं और इष्ट पर्याय नहीं होते। वे दूर चले जाते है।

भय : महान् घातक

भय के कारण न जाने कितने पर्याय बदल जाते है।

प्लेग (महामारी) घोड़े पर चढ़कर जा रही थी। बीच में कन्फ्यूशियस मिला। उसने पूछा—'कहां जा रही हो?'

प्लेग बोली— 'सिंगाई नगर जा रही हूं।'

'क्या करोगी ?'

'मुझे मनुष्यों को मारना है।'

'कितने मनुष्यों को मारोगी'

'दस हजार।'

कन्फ्यूशियस इतना सुनकर आगे बढ़ गया।

कुछ दिन बीते। एक दिन कन्फ्यूशियस घूमने जा रहा था। सामने से वही प्लेग घोड़े पर बैठ कर आ रही थी। कन्फ्यूशियस बोला—तुमने असत्य क्यों कहा कि दस हजार मनुष्यों को ही मारूंगी। प्लेग बोली—महाशय! मैंने असत्य नहीं कहा। कन्फ्यूशियस ने कहा—सिंगाई नगर में पचास हजार आदमी मरे हैं, दस हजार नहीं। प्लेग बोली—मैंने तो दस हजार ही मारे थे। शेष चालीस हजार भय से मर गए। मैं इसका क्या करती।'

भय आदि सारे हमारे जीवन के अन्तर पर्याय हैं। इन पर्यायों को हमें जानना है, इन्हें बदलना है।

कैसे बदलें—यह एक प्रश्न है। बदलने का मूल सूत्र क्या है? जो पर्याय हमारे जीवन का विघ्न है, जो पर्याय हमें दुःख दे रहा है, उसे कैसे बदलें और नए पर्यायों को कैसे अभिव्यक्त करें, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है।

जैसे-जैसे हमारे स्वाभाविक पर्याय अभिव्यक्त होते हैं वैसे-वैसे ये दुःख देने वाले पर्याय समाप्त होते जाते हैं और जैसे-जैसे स्वाभाविक पर्याय तिरोहित होते हैं, वैसे-वैसे वैभाविक पर्याय प्रकट होते हैं।

साधना का सूत्र—देखो जानो

अनेकान्त की दृष्टि से साधना का या अपने स्वाभाविक पर्याय को प्रगट करने का सबसे बड़ा सूत्र है—जानो-देखो, जानो-देखो, देखो-जानो। बस, इसके अतिरिक्त कोई साधना नहीं है। आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, आखें बन्द करना, दीर्घश्वास लेना—ये सब व्यर्थ हैं। इनके चक्कर में न पड़ें। इनमें कोई सार नही है। एकाग्रता भी व्यर्थ है? किस काम की एकाग्रता? क्या सेंध लगाने वाला चोर कम एकाग्र होता है? क्या तीरंदाज कम एकाग्र होता है? क्या बगुला मछली पकड़ते समय एकाग्र नहीं होता? गोली चलाने वाला क्या एकाग्र नहीं होता? ये सब बातें जानने के साथ जुड़ती हैं तब काम की बनती हैं और भोगने के साथ जुड़ती हैं तो दुःख देने वाली बनती जाती हैं। दो स्पष्ट रेखाएं हैं— एक है जानने की रेखा और

दूसरी है भोगने की रेखा। भोगने के साथ जब आसन जुड़ता है तो वह भी दुःखदायी बन जाता है। आदमी चाहता है कि आसन करूं, शरीर पुष्ट बने। इतनी शक्ति भर जाए कि अधिक भोग भोग सकूं और शक्ति कभी क्षीण न हो। क्या आसन साधना का सूत्र है? कहां रहा साधना का सूत्र? ऐसा प्राणायाम करूं कि जितना खाऊं हजम हो जाए। योगमुद्रा करूं और अधिक खाया हुआ पच जाए। इस हेतु से प्रेरित होकर वह योगमुद्रा करता है, प्राणायाम करता है। क्या यह प्राणायाम साधना का सूत्र है? कहां है साधना का सूत्र !यह तो भोग का सूत्र बन गया।

यूनान का बादशाह नीरो भोजन का शौकीन था। जब वह भोजन करने बैठता तब पांच-दस चिकित्सक पास में रखता और मोरपंख अपनी बगल में रखता। अच्छा भोजन डटकर कर लेता और तत्काल मोरपंख से वमन कर लेता। इस प्रकार भोजन करता और वमन कर लेता । यह क्रम दिन में १०-२० बार चलता। चिकित्सक उसका निरीक्षण करते रहते।

क्या चिकित्सा भी कोई सुख देने वाली बनती है? क्या आसन और प्राणायाम साधना के सूत्र बनते हैं? इन्द्रियों का संयम, प्रत्याहार आदि क्या साधना के सूत्र बनते हैं? आदमी प्रत्याहार करता है इसलिए कि स्थिरता में न सूझने वाली बात भी सूझ जाए। सट्टे का अंक ज्ञात हो जाए।

आज के विश्व में कितने प्रकार की साधनाएं चलती हैं। कोई पिशाच की साधना करता है, कोई भूत की साधना करता है और कोई कर्णपिशाचिनी की साधना करता है। ये सारी साधनाएं इसलिए की जाती हैं कि भौतिक उपलब्धि हो।

क्या मंत्र साधना का सूत्र है? नहीं, वह आज भी भौतिक समृद्धि या स्वार्थ को पूरा करने का साधन बना हुआ है।

साधना के सूत्र का रहस्य

हम प्रत्येक पहलू पर अनेकान्तदृष्टि से सोचें। ध्यान, धारणा, एकाग्रता, प्राणयाम, प्रत्याहार, यम, नियम—ये सब साधना के सूत्र नहीं हैं। जब ये जानने के साथ जुड़ते हैं तब साधना सूत्र बनते हैं। जब ये जानने के अभिमुख होते है, तब साधना के प्रेरक बनते हैं। जब ये भोग के अभिमुख होते हैं तब असाधना के सूत्र बन जाते हैं। इनको कभी एकांतिक मूल्य नहीं दिया जा सकता।

साधना का मूल सूत्र है—जानना। यह कभी अनेकान्तिक नहीं होता। जानना, केवल जानना, घटना को भोगना नहीं, यह साधना का सूत्र है। इसके साथ जुड़ने वाला हर कारण साधना का सूत्र बन जाता है। जानो और देखो। श्वास को जानो,

देखो। भोगो मत। प्रतिक्रिया मत करो। साधना का रहस्य है—जानना, प्रतिक्रिया न करना, घटना को न भोगना। जब आदमी घटना भोगने लगता है तब दुःखी बनता है। जब वह केवल जानता है तब कभी दुःखी नहीं बनता।

ध्यान का परम सूत्र

धर्म का और ध्यान का यही परम सूत्र है—वेदना को जानो, भोगो मत। शरीर में पीड़ा है। उसे जानो, भोगो मत। जानने वाला बीमारी को कम कर देता है और भोगने वाला उसे बढ़ा देता है। कहीं दर्द है, उसे आप जानें, देखें वह दर्द कम होता जाएगा। भोगने लगेंगे तो वह बढ़ जाएगा। जो लोग जानते हैं, देखते हैं, वे बीमारी को मेहमान मानते हैं। आज आया है, बेचारा चला जाएगा। जितने दिन रहना चाहे, रहने दो, क्या अन्तर आता है? मेहमान मेहमान होता है, स्थायी सदस्य नहीं होता। वह आता है और चला जाता है। जब आदमी बीमारी को भोगने लग जाता है, तब वह अधीर हो जाता है और उसको मिटाने के लिए अनेक प्रकार के विषों का प्रयोग करता है। वह चाहता है कि क्षण भर में वह मिट जाए।

वेदना का भय होता है। वह भय सारे शरीर में असंतुलन पैदा कर देता है। जितना भय होगा, वेदना को भी उसी तीव्रता से भोगना पड़ेगा। दुःख का जितना अनुभव होगा, संवेदन जितना तीव्र होगा, हमारे शरीर-तंत्र की सारी क्रियाएं उतनी ही असंतुलित हो जाएंगी।

नेपोलियन वाटरलू का युद्ध हार गया था। क्यों? यह एक रहस्यपूर्ण बात है। डॉक्टरों ने नेपोलियन का परीक्षण किया और रिपोर्ट में लिखा कि नेपोलियन की पिच्यूटरी ग्लैण्ड विकृत हो गई थी, इसलिए वह सही निर्णय नहीं ले सका।

भय अधैर्य को उत्पन्न करता है। क्रोध से ग्रन्थियों का तंत्र असंतुलित हो जाता है। उसको बहुत अधिक काम करना पड़ता है। उसका सहज, स्वाभाविक काम छूट जाता है। यह हानिकारक होता है।

निर्णय लेना पिच्यूटरी ग्रन्थि का कार्य है। जब उस पर अधिक दबाव पड़ता है, तब वह थक जाती है और गलत निर्णय लेने लग जाती है। एक नेपोलियन नहीं, न जाने कितने नेपोलियन वाटरलू लड़ाईयां हार गए हैं, हार जाते हैं। महायुद्ध करने वाले, लड़ाईयां लड़ने वाले, समाज में संघर्ष और विग्रह करने वाले ही लोग होते हैं जिनका ग्रन्थि-तंत्र असंतुलित हो जाता है। वैसे लोग अपने भीतर आवेगों और आवेशों के कारण अपनी ग्रन्थियों को इतना परेशान कर देते हैं कि वे ग्रन्थियां

असंतुलित हो जाती हैं और तब वे गलत निर्णय लेने लग जाती हैं। वैसे लोग स्वयं नष्ट होते हैं और साथ-ही-साथ सारे विश्व को विनाश की महाज्वाला में झोंक देते हैं।

इन सब स्थितियों से उबरने का एकमात्र उपाय है—स्वभाव पर्याय का बोध और यौगिक पर्यायों का परिवर्तन। स्वभाव पर्याय के उदय की और यौगिक पर्याय के परिवर्तन की चाबी है—ज्ञाता होना, भोक्ता नहीं, केवल जानना, भोगना नहीं। घटना को हम जानें, भोगें नहीं। घटना में बहें नहीं। जो व्यक्ति घटना के प्रवाह में बह जाता है वह वास्तविकता को कभी नहीं जान सकता। घटना की सच्चाई वही व्यक्ति जान सकता है जो तट पर खड़ा रहता है, घटना के साथ बह नहीं जाता। प्रवाह के भीतर घुसने वाला दलदल में फंस जाता है। जो तट पर खड़ा रहता है वह वास्तव में समझ सकता है कि क्या-क्या घटित हो रहा है।

ध्यान जानने की प्रक्रिया है। जानें, प्रत्येक घटना को जानें। जानना कोई बुरा नहीं है। अच्छी घटना को ही नहीं, बुरी घटना को भी जानें। प्रिय घटना को ही नहीं, अप्रिय घटना को भी जानें। जब जानना घटित होता हैं तब न कोई बुरी घटना होती है और न अच्छी। न कोई प्रिय घटना होती है और न कोई अप्रिय घटना। प्रियता-अप्रियता, अच्छा-बुरा, सुन्दरता-असुन्दरता—ये सब घटना को भोगने के बाद होने वाली प्रतिक्रियाएं हैं। जानने के साथ इनका सम्बन्ध नहीं।

एक महान् साधक ध्यान किए जंगल में बैठा था। पूनम की रात थी। चांद की चांदनी सारी धरती पर छितरा रही थी। कुछ मनचले युवक एक सुन्दर युवती का अपहरण कर जंगल में ले गए। जैसे ही अवसर मिला, युवती भाग निकली। युवकों ने उसका पीछा किया। वे चलते-चलते वहां आ पहुंचे जहां वह साधक ध्यान में लीन था। साधक ने ध्यान सम्पन्न किया। उन युवकों ने पूछा—क्या आपने किसी सुन्दर युवती को इधर से गुजरते देखा था? साधक बोला—एक परछाई गुजरी थी। मुझे पता नहीं वह सुन्दर थी या असुन्दर? युवक बोले—सामने से गुजरी और पता तक नहीं चला कि वह सुन्दर थी या असुन्दर? यह कैसे हो सकता है तुम्हारी यह स्थिति कब से बन गई?

साधक बोला—जब से मैं अपने प्रति जागा तब से यह स्थिति बन गई। अब मैं अपने प्रति पूर्ण जागृत हो गया हूं। अब मेरे लिए न कोई सुन्दर है और न कोई असुन्दर। सब परछाइयां ही परछाइयां हैं। प्रतिबिम्ब ही प्रतिबिम्ब रह गए हैं।

ध्यान कब फलित होता है?

जब आदमी केवल जानता है, केवल ज्ञाता होता है, उसके लिए न कुछ प्रिय होता है और न कुछ अप्रिय होता है। न कुछ सुन्दर होता है और न कुछ असुन्दर होता है। न कुछ सुखद होता है और न कुछ असुखद होता है। घटना-घटना होती है, पर्याय पर्याय होता है और ज्ञान ज्ञान होता है। ज्ञेय का पर्याय ज्ञान नहीं होता और ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय नहीं होता। ये दोनों भिन्न होते हैं। एक है ज्ञेय और एक है ज्ञान। किन्तु हमारी आशंकाओ के कारण ज्ञान का पर्याय अपना नहीं रहा, ज्ञान ज्ञेय के साथ बह गया। जैसा ज्ञेय सामने आया वैसा ही ज्ञान बन गया।

साधना का सूत्र है—इस अवस्था को बदल देना। केवल ज्ञान के पर्याय को ज्ञान के पर्याय में रहने देना और ज्ञेय के पर्याय को ज्ञेय के पर्याय में रहने देना। दोनों का परस्पर स्पर्श न होने देना। केवल इतना-सा करना है। इतना-सा परिवर्तन हो कि ज्ञान, ज्ञान बना रहे और ज्ञेय ज्ञेय बना रहे, घटना घटना रहे और ज्ञाता ज्ञाता रहे। इतना होने पर सब कुछ हो जाता है। कुछ दूसरा करने की जरूरत नहीं रहती। जिस दिन यह बिन्दु जाग जाए फिर दो घण्टा ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है। जब यह घटित हो गया कि आप घटना को जानते हैं भोगते नहीं तो ध्यान अपने आप फलित हो जाता है। फिर आप सोते हैं तो ध्यान होता है, चलते हैं तो ध्यान होता है, खाते हैं तो ध्यान होता है, बोलते हैं तो ध्यान होता है। मौन की कोई आवश्यकता नहीं है। बस, मौन तो इतना भर रह जाता है कि निरन्तर न बोला जाए, ध्यान अपने आप जीवन में घटित हो जाता है।

हमारा मूल स्वभाव है—जानना, देखना। यह एक दिन में ही घटित नहीं हो जाता, ऐसा सम्भव नहीं है। असंभव को असंभव नहीं मानना चाहिए। जो चीज एक दिन में संभव नहीं है, उसके लिए एक दिन में ही आतुरता बढ़ा देना उचित नहीं है।

लोग मानते हैं कि एल० एस० डी० से सब कुछ घटित हो जाता है। यह झूठी कल्पना है। झूठे आश्वासन में न रहें।

घटना में मत बहो

जब हमारी जागरूकता का विकास होगा, भावक्रिया का विकास होगा तब भोगने की बात छूटेगी। भावक्रिया साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हम वर्त्तमान में रहें। वर्त्तमान के पर्याय को जानते रहें। अतीत और भविष्य के पर्यायों में अधिक

न उलझें। जानने का अर्थ यह नहीं है कि आदमी प्रयत्न नहीं करता, पुरुषार्थ को छोड़ देता है। वास्तव में जानने वाला व्यक्ति ही सही निर्णय लेता है, सही प्रयत्न करता है। अतीत और भविष्य में उलझने वाला व्यक्ति ज्यादा प्रयत्न भी नहीं कर सकता और सही निर्णय भी नहीं ले सकता।

एक व्यापारी था। उसने सुना कि व्यापार में घाटा हो गया है। यह सुनते ही वह दुःखी हो गया, निराश हो गया, चिन्ता में डूब गया, सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। इसका अर्थ हुआ कि वह व्यक्ति घटना को भोगने लग गया।

एक व्यक्ति ने जाना कि व्यापार में घाटा हो गया है। उसने जान लिया, पर इस घटना के साथ बहा नहीं। वह सही निर्णय लेगा, सही प्रयत्न करेगा और जीवन में सफल हो जाएगा।

एक व्यक्ति को व्यापार में बहुत लाभ हुआ। वह घटना के साथ बह गया और इतना बहा कि खुशी में प्राणों से हाथ धो बैठा।

बहुत हर्ष भी दुःख देने वाला होता है और बहुत शोक भी दुःख देने वाला होता है।

गुजरात की एक घटना है। एक गरीब ने लाटरी में पांच रुपये लगाए। लाटरी में पांच लाख रुपये आ गए। अधिकारी ने सोचा—अब इसकी सूचना उस गरीब को कैसे दी जाए। कहीं हर्षातिरेक से वह पागल न हो जाए, मर न जाए। उसने एक बुद्धिमान डॉक्टर से परामर्श किया। डॉक्टर ने कहा—मैं उसे संभाल लूंगा। सब उस गरीब के घर गए। पूछा—कहो क्या हाल-चाल है? वह बोला—दुःख से जीवन-यापन कर रह हूं। मेरे जीवन में सुख कहां है? डॉक्टर ने कहा—यदि तुम्हें कहीं से दस हजार रुपये मिल जाएं तो?

'अरे कहां हैं मेरे नसीब में ! यदि ऐसा हो जाए तो आधा आपको दे दूंगा।'

'यदि पचास हजार मिल जाएं तो?'

'पचीस हजार आपको दे दूंगा।'

'एक लाख मिल जाएं तो !'

'पचास हजार आपको दे दूंगा।'

'यदि दो लाख मिल जाएं तो?'

'एक लाख आपको दे दूंगा।'

'यदि पांच लाख मिल जाएं तो?'

'ढाई लाख आपको दे दूंगा।'

'क्या तुम ढाई लाख मुझे दे दोगे ?' इतना कहते ही उस डॉक्टर का हार्ट फेल हो गया और वह वहीं मर गया।'

घटना में बहने वाला आदमी बहुत दुःख पाता है। यह एक सच्चाई है। ध्यान करने वाले साधक को इस सच्चाई का भान हो जाना चाहिए। यदि ध्यान करने के बाद भी यह समझ न आए तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सफल नहीं हो रहा है। ध्यान करने वाले का आचार, विचार, व्यवहार या दृष्टिकोण नहीं बदला है तो मान लेना चाहिए कि ध्यान में अभी प्रवेश ही नहीं हुआ है। तब ध्यान सफल होने लगता है जब आचार बदलता है, विचार और व्यवहार बदलता है, दृष्टिकोण बदलता है। सबसे बड़ी बात यह घटित होती है कि जानने की बात आगे आ जाती है और भोगने की बात पीछे रह जाती है।

प्रवचन १०

संकेतिका

१. भारतीय दर्शन निराशावादी है—यह आरोप।

२. पदार्थ के प्रति जागना ही आशावादी दृष्टिकोण नहीं है।

३. दो मार्ग—थोड़े के लिए बहुत को छोड़ना।
बहुत के लिए थोड़े को छोड़ना।

४. पदार्थ का रास्ता है—थोड़े के लिए बहुत को छोड़ना।
शान्ति का रास्ता है—बहुत के लिए थोड़े को छोड़ना।

५. पदार्थ का मार्ग निराशा का मार्ग है।
शान्ति का मार्ग आशा का मार्ग है।

६. साधना का मार्ग मीठी बातों का मार्ग नहीं है।

७. शरीर और भोजन के प्रति संतुलन का भाव।
शरीर के प्रति दो कोणों का संतुलन—

- इमं सरीरं अणिच्चं—एक कोण।
- सरीरमाहु नावत्ति—एक कोण।

आहार के प्रति दो कोणों का संतुलन—

- रूखा-सूखा खाना या तपस्या करना—एक कोण।
- कभी-कभी मधुर भोजन करना—एक कोण।

८. दृष्टि के परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन।

- काल करै सो आज कर।
- मा निषादी निशात्यये।

९. ज्ञान की दो सीमाएं—

- एक है बुद्धि की सीमा।
- एक है अनुभव की सीमा।

१०. अध्यात्म है—भीतर जगत् से परिचित करने का साधन।

- अध्यात्म है—जीवन की समुचित दृष्टि।

आशावादी दृष्टिकोण

दो पक्ष

समय का रथ अबाध गति से चल रहा है। इसके दो पक्ष हैं—एक है दिन और दूसरा है रात। जीवन का रथ भी निरन्तर गतिशील है। उसके दो चक्र हैं—एक है आशा और दूसरा है निराशा। दिन प्रकाश है और रात अन्धकार। आशा प्रकाश है और निराशा सघन अन्धकार। पश्चिम के दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया कि भारतीय दर्शन निराशावादी दर्शन है। वह दुःख को ही देखता है, दुःख ही दुःख। जन्म दुःख है, मरण दुःख है, रोग दुःख है, बुढ़ापा दुःख है—सर्वत्र दुःख ही दुःख है। वह दुःख से डरता है और निराशा का दृष्टिकोण अपनाकर वैसी ही प्रक्रिया को खोजता है। संयम करो, अपरिग्रह करो, त्याग करो —ये सब निराशावादी दृष्टिकोण की प्रक्रियाएं हैं। आशावादी पदार्थों का विकास करेगा, जीवन को आनन्दमय बनाएगा, समृद्धि और सम्पदाओं का विकास करेगा। वह छोड़ने की या त्याग की बात को प्रश्रय नहीं देगा। वह कहेगा—नया निर्माण करो, नया विकास करो, नई सृष्टि करो, नई दृष्टि से प्रस्थान करो, सदा विकास की दिशा में यात्रा करो। उसकी यात्रा विकास की ओर होगी, ह्रास की ओर नहीं। भारतीय दर्शन ने त्याग का महत्व बतलाया। परिणाम यह हुआ कि वह गरीब रह गया। भारतीय दर्शन ने अहिंसा का महत्व बतलाया। परिणाम यह आया कि वह समृद्धि की दौड़ में पीछे रह गया। इतिहास बतलाता है कि जब आक्रान्ताओं ने बन्दूक से लड़ाई लड़ी, तब भारतीय योद्धाओं ने तलवार से युद्ध किया। आक्रान्ताओं ने जब तोपों से लड़ाई लड़ी, तब भारतीय योद्धाओं ने बन्दूक से उनका सामना किया। वे विकास नहीं कर पाए। विकास इसलिए नहीं कर पाए कि उनका जीवन-दर्शन अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संयम पर आधारित था। विकास नहीं कर सके। न परिग्रह का विकास, न सम्पदा का विकास और न पदार्थ का विकास। ये सब में पिछड़ गए।

पदार्थ-विकास की ओर ध्यान क्यों नहीं?

कुछ अंशों में इस कथन में सचाई हो सकती है। इसे हम आरोप ही न मानें। भारतीय लोगों ने पदार्थ के विकास की ओर उतना ध्यान ही नहीं दिया जितना आज

के लोग अपेक्षा रखते हैं। उन्होंने ध्यान क्यों नहीं दिया? इस पर हमें गंभीरता से विचार करना होगा।

उन्होंने ध्यान इसलिए नहीं दिया कि भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है, संस्कृति बहुत प्राचीन है। भारतीय विकास का इतिहास बहुत पुराना है। यहां के लोग एक समय, सभ्यता और संस्कृति में तथा अन्यान्य विकासों में ऊंचे शिखिर पर पहुंच चुके थे। वहां पहुंचने के पश्चात् उन्होंने अनुभव किया कि अब रास्ता बन्द है। अब आगे जाने का कोई मार्ग नहीं है।

चोटी पर पहुंचने वाला और आगे कहां जा पाएगा? पहाड़ की तलहटी या बीच में हो तो आगे जाने का रास्ता रहता है। चोटी पर पहुंचने पर दो विकल्प शेष रहते हैं—या तो वह चोटी पर खड़ा रहे या फिर नीचे उतर आए। चोटी पर कोई खड़ा रह नहीं सकता। लम्बे समय तक वहां रहने का अवकाश नहीं रहता। उसे नीचे आना ही होता है।

भारतीय लोग सभ्यता, संस्कृति और विकास की चोटी पर पहुंच गए थे। वहां जाकर उन्होंने अनुभव किया कि अब आगे का रास्ता बन्द है, नया रास्ता खोजना होगा, नया आयाम खोजना होगा। उन्होंने अनुभव किया कि पदार्थ-विकास के शिखर पर पहुंचने पर यह स्पष्ट अनुभूति हो गई कि मिला कुछ भी नहीं। पहले यह आशा थी कि चोटी पर जाएंगे, वहां कुछ अवश्य ही मिलेगा। पर वहां मिला कुछ भी नहीं। खाली खड़े-खड़े वहां क्या करें, वहां ऐसा कुछ भी नहीं मिला कि उसके आकर्षण से प्रतिबद्ध होकर वहीं खड़े रहें। नीचे जाने का रास्ता था, पर उन्होंने नीचे जाना स्वीकार नहीं किया, दूसरा रास्ता चुना। इस दूसरे रास्ते को आज के दार्शनिक निराशावाद का दृष्टिकोण कहते हैं।

इस चिन्तन से हमारी सहमति नहीं हो सकती। पदार्थ के प्रति यदि जानना ही आशावादी दृष्टिकोण है तो मान लेना चाहिए कि मनुष्य को इस संसार में शान्ति से जीने का कोई अधिकार ही नहीं है।

दो मार्ग

दो रास्ते हैं। एक रास्ता है सुख-सुविधा का और दूसरा रास्ता है शान्ति का। एक रास्ता है अनन्त और दूसरा है ससीम। शान्ति का रास्ता अनन्त है और पदार्थ का रास्ता ससीम। कोई भी आदमी पदार्थ-विकास में अनन्त यात्रा नहीं कर सकता। शान्ति के विकास में आदमी अनन्त यात्रा कर सकता है। उसमें अनन्तकाल तक चल सकता है। कहीं भी उसे हटने या मुड़ने की आवश्यता नहीं होती।

भारतीय लोगों ने दूसरे रास्ते—शान्ति के रास्ते का चुनाव किया। यह तो निश्चित बात है कि गरीब आदमी अच्छे रास्ते का चुनाव नहीं कर सकता।गरीब आदमी त्याग और संयम के रास्ते का चुनाव नहीं कर सकता। जब गरीबी ही नहीं जाती तो वह आदमी बड़ी बात कैसे कर सकता है? उस बड़े रास्ते की बात वही आदमी कर सकता है जो सम्पदा और समृद्धि के शिखर पर पहुंच जाता है। वहां पहुंचने पर जब उसे कुछ भी सारवान् वस्तु उपलब्ध नहीं होती तब सोचता है कि दूसरा रास्ता भी होना चाहिए। गरीब आदमी से ऐसी आशा न रखें।

आज का भारतीय फिर गरीब हो गया है। आज उससे यह आशा रखी जाए कि वह नैतिक बने, ईमानदार रहे, प्रामाणिक बने, आध्यात्मिक बने, यह आशा दुराशा होगी। ऐसा संभव नहीं है। इसकी संभावना में बहुत बड़ी कठिनाइयां हैं। ये कठिनाइयां उन लोगों के लिए सरल होती हैं जो समृद्धि के शिखर पर पहुंच जाते हैं।

आज के पश्चिम् जगत् का आदमी जितना जल्दी आध्यात्मिक बन सकता है, जितना जल्दी ध्यान के प्रति आकृष्ट हो सकता है, उतना जल्दी भारत का आदमी आकृष्ट नहीं हो सकता। कारण बहुत ही स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य लोग पदार्थ की प्रकृति को समझ चुके हैं। वे पदार्थों का भोग कर चुके हैं और उस शिखर का स्पर्श कर चुके हैं, जहां पहुंचने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि अब आगे नहीं जाया जा सकता, अब आगे का रास्ता बन्द है। यहीं उसकी इति है। वे बहुत जल्दी आध्यात्मिक बन सकते हैं और नए मार्ग का चुनाव कर सकते हैं। पर जो आदमी अभी छोटे में उलझा हुआ है वह बड़ी बात नहीं कर सकता।

मा अप्पेण लुंपहा बहुं

भगवान् महावीर की साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—**'मा अप्पेण लुंपहा बहुं।'** थोड़े के लिए बहुत को मत गंवाओ। यही भारतीय दर्शन का मुख्य सूत्र बन गया। कालीदास ने भी अपने काव्यों में इसका उच्चारण किया है। पूछा गया पंडित कौन होता है? पंडित वह होता है जो थोड़े के लिए बहुत को नहीं खोता। वही बुद्धिमान् होता है।

राजा संन्यासी के पास गया। उसने उस संन्यासी की बहुत ख्याति सुनी थी। पास में जाकर उसने वन्दना की। उसने देखा, निकटता से देखा कि संन्यासी बहुत बड़ा तपस्वी है, प्रभावी है। हाथ जोड़कर राजा बोला—'धन्य हैं आप। धन्य है आपके संयम और त्याग को। धन्य है आपकी तपस्या। कितना बड़ा त्याग है

आपका ! घर छोड़ दिया, परिवार का त्याग कर दिया, सारी सम्पदा को ठोकर मार दी, कितना महान् त्याग !' राजा स्तुति करता रहा। संन्यासी बोला—महाराज ! व्यर्थ ही स्तुति मत करो। त्यागी मैं हूं या तुम ? त्याग मेरा बड़ा है या तुम्हारा ? तुम्हारा त्याग बड़ा है। राजा आश्चर्य में पड़ गया। बोला—महाराज मैं कैसा त्यागी ? इतने वैभव, इतनी सम्पदा और सुख का मैं भोग कर रहा हूं। निरन्तर भोग में बैठा हूं। कहां है मेरा त्याग ? कैसा है मेरा त्याग ?

संन्यासी ने कहा—मैंने जो कहा वह सच है। तुम्हारा त्याग मेरे त्याग से बड़ा है। सुनो, इसका कारण ! मेरे सामने मोक्ष का सुख है। मेरे सामने परमात्मा का परमसुख है। इतना बड़ा सुख है ! सबसे महान् सुख है। इस सुख की प्राप्ति के लिए मैंने थोड़ा-सा धन का सुख छोड़ा, परिवार और सम्पदा का सुख छोड़ा है। किन्तु तुम बड़े त्यागी हो। उस महान् मोक्ष और परमात्मा के सुख को छोड़कर धन के छोटे-से सुख में फंसे हो। अब बताओ, बड़े सुख को तुमने छोड़ा है या मैंने ? बताओ, बड़े त्यागी तुम हो या मैं ?

दो मार्ग बहुत स्पष्ट हैं। एक मार्ग है—थोड़े के लिए बहुत को छोड़ने का। दूसरा मार्ग है—बहुत के लिए थोड़े को छोड़ने का।

यह पदार्थ का रास्ता, जिसे आज की भाषा में आशावादी दृष्टिकोण कहा जाता है, थोड़े के लिए बहुत को छोड़ने का रास्ता है, बहुत को छोड़ देना और थोड़े के रास्ते पर चल पड़ना।

दूसरा रास्ता है शान्ति का जो बहुत के लिए थोड़े को छोड़ने का रास्ता है। थोड़े को छोड़ देना और बहुत के मार्ग पर चल पड़ना।

शान्ति का मार्ग निराशा का मार्ग नहीं

शान्ति का मार्ग कभी निराशा का मार्ग नहीं हो सकता। यह वास्तव में निराशा का मार्ग नहीं है। यह तो बहुत आशा का मार्ग है मनुष्य अनन्त आशा को लेकर चलता है कि मैं परमात्मा बन जाऊं। यह कोई छोटी आशा या भावना नहीं है। बहुत बड़ी भावना है मैं परमात्मा बन जाऊं। यदि कोई कहे—मैं आचार्य तुलसी बन जाऊं तो लगेगा कि यह अंह की भाषा बोल रहा है। यदि कोई चाहे—राजा बन जाऊं, प्रधानमंत्री या मंत्री बन जाऊं तो लगेगा कि अहंकार और आकांक्षा की भाषा में सोच रहा है। कोई व्यक्ति चाहे—मैं परमात्मा बन जाऊं तो किसी को आपत्ति नहीं होगी। कोई नहीं कहेगा कि वह अहंकारी आदमी है, महत्वाकांक्षी है। यह बहुत बड़ा पद है परमात्मा बनना, उसकी चाह करो, कोई आपत्ति नहीं होगी। छोटे पद

की आकांक्षाएं आपत्तिजनक होती हैं, गड़बड़ियां पैदा करने वाली होती हैं। प्रधानमंत्री पद की चाह करो तो पहला व्यक्ति जो कुर्सी पर बैठा हुआ है वह यह सोचेगा कि सबसे पहले उसे समाप्त करो जो प्रधानमंत्री पद की चाह करता है। क्योंकि वह उसका प्रतिद्वन्दी बन जाता है। जितने पद हैं उन सब में संघर्ष है, सब में द्वन्द्व हैं। इन छोटे पदों में रहने वाले सदा सोचते हैं—वह दूसरा पद पर आ न जाए। मेरी कुर्सी छीन न ले। किन्तु परमात्मा का पद बहुत विराट् और विशाल है। कोई भी इस पद को पाना चाहे, किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, किसी को स्पर्द्धा नहीं होती, कोई संघर्ष नहीं होता।

परमात्मा बनने का मार्ग, बहुत साफ है। इतना विशाल मार्ग है कि जिसमें सब छोटे मार्ग समा जाते हैं, सब समाप्त हो जाते हैं। वह अनन्त है और अनन्त है उसकी यात्रा। क्या यह दृष्टिकोण निराशावादी दृष्टिकोण है? कभी नहीं। कैसे माना जाये इसे निराशावादी दृष्टिकोण? यह परम-परम आशावादी दृष्टिकोण है।

आचार्य उमास्वामी तत्वार्थ सूत्र के कर्त्ता, प्रसिद्ध ग्रंथकार और सूत्रकार थे। उनके सामने एक शिष्य आकर बोला—गुरुदेव! इस संसार में ऐसा निर्बाध तत्व क्या है, जिसकी भावना सब लोग कर सकें? उन्होंने कहा—सुख। शिष्य ने पूछा—कैसा सुख? आचार्य बोले—मोक्ष सुख। शिष्य बोला—भन्ते? वह सुख कैसे उपलब्ध हो सकता है? आचार्य ने कहा—उसकी प्राप्ति का एक-मात्र उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र का अनुशीलन।

इस उपाय में किसी को आपत्ति नहीं है। इस मार्ग में किसी को आपत्ति नहीं है। इस परमसुख में किसी को आपत्ति नहीं है। यह अनन्त सुख, निर्बाध सुख, यह शांति का मार्ग कभी निराशावादी दृष्टिकोण नहीं हो सकता। यह आशा का इतना बड़ा दृष्टिकोण है कि वह आशा कभी समाप्त नहीं होती। वह अनन्त होती है और अनन्त में ही बदल जाती है। उसका कभी अन्त नहीं होता।

अध्यात्म का मार्ग, साधना और ध्यान का मार्ग कभी निराशावाद का मार्ग नहीं हो सकता। इस मार्ग में निराश व्यक्ति नहीं आते किन्तु वे व्यक्ति आते हैं जो पदार्थ का भोग करते-करते अशांति की आग में झुलस गए हैं। उन्हें शान्ति का उपाय उपलब्ध नहीं है। वे इस रास्ते की खोज में निकलते हैं। इस रास्ते की खोज उन्हीं लोगों ने की है जो पदार्थ का भोग करते-करते इतने अशांत बन गये कि चन्दन का लेप भी उन्हें शांत नहीं बना सकता, शीतलता नहीं दे सकता। इतनी महाज्वाला प्रज्ज्वलित हो गई कि सागर का पानी भी उसे बुझा नहीं सकता। ऐसी स्थिति में

उन्होंने नया रास्ता खोजा। यह परम आशा का दृष्टिकोण है, निराशा का नहीं।

कठिन है साधना का मार्ग

साधना का मार्ग बहुत कठिन मार्ग है। यह निश्चित है कि निराश व्यक्ति इसमें आ नहीं सकता और आलसी व्यक्ति इसमें सफल नहीं हो सकता। इसमें बहुत परिश्रम, प्रयत्न और पराक्रम करना पड़ता है। यह मानना भ्रांति है कि ध्यान करके आंखे बन्दकर बैठ जाना निठल्लापन है। ध्यान में जितना पराक्रम चाहिए उतना पराक्रम खेती में लगाने की जरूरत नहीं होती। एक आदमी हल जोतता है। वह मजे से चलता है, गीत गाता जाता है और आजकल का किसान तो ट्रांजिस्टर लटकाये चलता है। वह गाने सुनता है, साथ-साथ गाता भी है। हल जोतने, बीज बोने में बहुत श्रम करने की जरूरत नहीं है। किन्तु ध्यान करने वाले व्यक्ति को बहुत श्रम करना पड़ता है। यह कोई मीठी बातें करना नहीं है। यह हमारे जीवन की सार्थकता है। राजनेता चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, किन्तु ध्यान करने वाला वैसा नहीं कर पाता। वह सार्थक बात ही कहता है।

एक भाई ने अपने मित्रों से कहा—वह बहुत मीठी बातें करता है, उसकी बातें सुनने में बड़ी मीठी लगती हैं, पर होती हैं सारी की सारी बेमानी। वे बिना अर्थ की होती हैं। जो मीठी बातें करता है, पर अर्थ कुछ भी नहीं होता, वह राजनेता होता है।

साधना का मार्ग मीठी बातों का मार्ग नहीं है। वह अर्थहीन बातों का रास्ता नहीं है। साधना की बातें कड़वी कोती हैं, पर वे हैं सार्थक। इसीलिये लोगों को वह मार्ग निराशा का मार्ग लगता है। साधना का मार्ग है जीवन की शांति का और मन की शांति का मार्ग। जीवन और चित्त की शांति सम्पदा और समृद्धि से प्राप्त नहीं होती। इस शांति का कोई विकल्प नहीं है। इसका एकमात्र विकल्प है—चित्त की एकाग्रता, मन की चंचलता की समाप्ति और स्नायु-संस्थान तथा ग्रंथियों की क्रिया में परिर्वतन। इससे मन में आने वाले विकल्प तथा उर्मियां शांत हो जाती हैं। विकल्प और उर्मियां प्रतिक्रियाएं पैदा करती हैं, बेचैनी पैदा करती हैं। इस मार्ग को अवरुद्ध कर देना—इससे बड़ा शांति का कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता।

शरीर-वाणी-मन और आहार

एक तत्व के दो कोण बन जाते हैं, दो भाषाएं बन जाती हैं, दो चिंतन बन जाते हैं। अनेकान्त की दृष्टि से विचार करने पर दो तथ्य हमारे सामने आते हैं। साधना में सबसे पहले उपयोग होता है शरीर का, वाणी का और मन का और फिर उपयोग

होता है इन सबको संचालित करने वाले आहार का।

भारतीय दर्शन में शरीर के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। वह नश्वर है। शरीर के लिए कुछ भी मत करो,यह निराशावादी दृष्टिकोण हो सकता है। एक आदमी सोचेगा—जब शरीर मिला है तो खूब भोग भोगें, खूब खाएं-पीएं, मजा लें, जीवन का आनन्द लें, स्वाद लें। अभी तो कुछ देखा ही नहीं। फिर यह कहना कि शरीर को छोड़ दो, शरीर की सार-संभाल मत करो। कायोत्सर्ग करो, व्युत्सर्ग करो, गरिष्ठ पदार्थ मत खाओ। इसके विपरीत सोचने वाले लोग कहते हैं और इस भाषा में सोचते हैं—हम पैदा क्यों हुए हैं? न खाएं-पीएं तो इन चीजों का आविष्कार ही क्यों किया गया?

शरीर के प्रति दो दृष्टिकोण

भगवान् महावीर ने कहा—**"इमं सरीरं अणिच्चं"** यह शरीर अनित्य है।

यह एक दृष्टिकोण है। दूसरा दृष्टिकोण भी है। अनेकान्त की भाषा में सोचने वाला व्यक्ति किसी बात को एकांगी रूप से स्वीकार नहीं करता। दूसरा दृष्टिकोण है—

"सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चई नाविओ,
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।"

भगवान् महावीर ने कहा—शरीर तो नौका है। जब तक तट के पार नहीं चले जाते तब तक शरीर को नहीं छोड़ा जा सकता। छोड़ना भी नहीं चाहिये। इस शरीर से नौका का उपयोग करो। तट के पार जाना है। पार जाने के लिये इस शरीर का पूरा उपयोग करो। आत्मा नाविक और यह शरीर नौका है। शरीर का उचित उपयोग करो।

भोजन की अनिवार्यता

शरीर को टिकाए रखने के लिये, चलाने के लिए आहार भी देना होगा। बहुत लोग मानते हैं कि जैन दर्शन तपस्या पर अधिक बल देता है। आहार न करने पर अधिक भार देता है। यह भी एकांगी दृष्टिकोण है। शरीर को चलाने के लिये भोजन बहुत आवश्यक है।

जैनाचार्यों ने बहुत सुन्दर समीक्षा की है इस विषय में। साधु के लिए प्रश्न हुआ कि साधु को साधना करनी है तो वह तपस्या करे भूखा रहे। खाता क्यों है? यदि खाए बिना जीवन नहीं चलता तो जीवन चलाने के लिये रूखा-सूखा खाए। दूध-घी क्यों खाए? आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—स्निग्ध और मधुर भोजन के

बिना जीवन चलता नहीं। जीवन चल भी सकता है किन्तु मेधा, बुद्धि और स्मृति का विकास नहीं हो सकता। मधुर भोजन के बिना मेधा का विकास नहीं हो सकता, बुद्धि, स्मृति और धारणा का विकास नहीं हो सकता। शाक्ति का विकास नहीं हो सकता। जिन्हें अज्ञानी का जीवन जीना है, वे मधुर या स्निग्ध भोजन न भी करें, परन्तु जो ज्ञानी का जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें मधुर और स्निग्ध भोजन लेना ही होगा। भगवान् महावीर तपस्या बहुत करते थे। उन तपस्या के दिनों में उनका शरीर सूख गया था। जीवन रूखा-सूखा हो गया था। सूत्रकार बतलाते हैं कि जब भगवान् महावीर ने निरन्तर भोजन लेना प्रारम्भ किया तब उनके शरीर में दीप्ति आ गई।

दीप्ति और बौद्धिक प्रखरता का कारण

शरीर की दीप्ति या बौद्धिक प्रखरता भोजन पर बहुत कुछ निर्भर करती है। आचार्य ने उस प्रसंग में अनेक वैज्ञानिक तथ्य प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है—जिस क्षेत्र में स्निग्धता होती है वहां के लोग दीर्घायु होते हैं। जो काल स्निग्ध होता है, उसमें रहने वालों का आयुष्य लम्बा होता है। वे दीर्घायु होते हैं। जो मनुष्य स्निग्ध और मधुर भोजन करते हैं, वे दीर्घायु होते हैं। जिन्हें ऐसा भोजन प्राप्त नहीं होता वे अकाल-मृत्यु के शिकार हो जाते हैं।

भोजन के प्रति हमारा विचार सन्तुलित होना चाहिये। जो व्यक्ति केवल रूखा-सूखा खाते हैं, वे बहुत क्रोधी होते हैं। उनकी प्रकृति चिड़चिड़ी हो जाती है। यदि रूखे-सूखे भोजन के साथ-साथ मधुर और स्निग्ध भोजन का सन्तुलन रहता है तो जीवन सुचारू रूप से चल सकता है। प्रत्येक बात पर हमें अनेकान्त की दृष्टि से सोचना होगा। एकांतदृष्टि से किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। शरीर को छोड़ना है तो शरीर को धारण भी करना है। आहार को छोड़ना है तो आहार को चलाना भी है। रूखा-सूखा खाना है, आचमन करना है तो साथ-साथ स्निग्ध और मधुर भोजन का प्रयोग भी करना है। दोनों बातें साथ-साथ चलनी चाहिएं। दोनों चक्के साथ-साथ चलते हैं तब रथ आगे बढ़ता है। एक चक्के से गाड़ी नहीं चलती। इसलिये अनेकान्तवादी सन्तुलन की बात को कभी नहीं छोड़ सकता।

भगवान् महावीर ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। लम्बा समय बीत गया। उन्होंने सोचा—लगता है, अब शरीर साथ नहीं दे रहा है। पारणा करना है तपस्या को तोड़ना है, सम्पन्न करना है।

भोजन छोड़ना, करना दोनों आवश्यक

इससे एक नई दृष्टि मिली कि शरीर के दोषों को नष्ट करने के लिये, साधना में विघ्न बनने वाले दोषो को मिटाने के लिये भोजन को छोड़ना जरूरी है तो साधना की यात्रा को चलाने के लिये भोजन करना भी जरूरी है। कोई बीमार है। उसे कहा जाए—भोजन बन्द करो। ठीक है आज का डाक्टर भोजन बन्द करने में विश्वास नहीं करता, किन्तु प्राकृतिक चिकित्सक कहेगा—भोजन बन्द करो। एनिमा लो। शरीर में जमे विषों को निकालो, निकालते चले जाओ। किन्तु यह भी जानता है कि कोरा भोजन बन्द करना पर्याप्त नहीं है। पुनः भोजन कब, कैसे, कैसा देना है यह भी जानना है। यह बराबर देखता है कि व्यक्ति की प्राणशक्ति कमजोर न हो जाए। प्राणशक्ति भोजन से बनी रहती है।

दोनों पक्षों का संतुलन अपेक्षित होता है। शरीर के दो पक्ष, मन के दो पक्ष, वचन के दो पक्ष और आहार के दो पक्ष—इसमें सन्तुलन रहे, इनको कभी बिगाड़ा न जाए।

सम्यग् ग्रहण

हम ध्यान के अर्थ को समुचित ढंग से समझें। साधना और अध्यात्म के अर्थ को सम्यग् ग्रहण करें। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब दृष्टि स्पष्ट नहीं होती तब अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जिनकी दृष्टि स्पष्ट होती है तो अर्थ और अधिक सार्थक बन जाता है। हमारे सामने यह तथ्य स्पष्ट होना चाहिये।

एक घटना है। एक कार्यालय के अफसर ने सोचा—कर्मचारी पूरा काम नहीं करते। ऐसा कोई प्रेरणा-सूत्र हो जिससे सबके मन में अपने-अपने कार्य के प्रति निष्ठा जागे और वे सब तत्परता से काम करें। उसके एक सूत्र स्मृतिपटल पर उभर आया। वह सूत्र उसने एक तख्ते पर लिखवा कर मुख्य स्थान पर टांग दिया। वह सूत्र था—'काल करे सो आज कर।' कर्मचारियों ने उसे पढ़ा। प्रेरणा का उदय हुआ। पहला परिणाम यह आया कि कार्यालय का कैशियर दूसरे ही दिन दस हजार रुपये लेकर फरार हो गया। खोजबीन की गई। पकड़ा गया। अधिकारी ने कहा—तुमने मेरे साथ इतना बड़ा विश्वासघात किया? कैशियर बोला—कुछ नहीं, मैं विश्वासघात कैसे करता? आपके वाक्य ने मुझे यह काम करने के लिये प्रेरित किया। अभी मैं ऐसा नहीं करता, दो-दस दिन ठहर जाता, परन्तु 'काल करे सो आज कर' इस वाक्य ने मुझे आज ही कार्य करने की प्रेरणा दी और मैंने यह कार्य सम्पन्न कर दिया। अब मेरे सामने कल करने का मौका ही कहां रहा, मैंने आज निबटा दिया।

नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र की निर्मलता

कभी-कभी बड़ा अनर्थ हो जाता है। जिसकी दृष्टि साफ नहीं होती, निर्मल नहीं होती, वह अच्छे तत्त्व को भी विकृत बना देता है। जब तक व्यक्ति का मस्तिष्क स्नायु-संस्थान निर्मल नहीं होता तब तक साधना अच्छी नहीं होती। योगशास्त्र में इस पर बहुत बल दिया गया है कि साधक पहले अपने नाड़ी-संस्थान को दोषमुक्त करे। नाड़ी-संस्थान निर्मल होता है तो प्रज्ञा निर्मल होती है। ज्ञान-तंतु और कर्मतन्तु जितने निर्मल होते हैं उतनी ही ज्ञान और कर्मजाशक्ति बढ़ती चली जाती है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है ग्रंथितंत्र की। हमारा ग्रंथितंत्र जितना निर्मल और पवित्र होता है, उतनी ही हमारी भावना भी निर्मल होती हैं, उतने ही हमारे आवेग और आवेश कम होते हैं। अब नाड़ी-संस्थान का स्थान दूसरा हो गया है और ग्रंथितंत्र का स्थान पहला हो गया है। विज्ञान की खोजों ने इस तथ्य को बहुत प्रमाणित कर दिया है कि हमारे जितने भावात्मक तनाव होते है, वे सारे ग्रंथितंत्र के द्वारा पैदा होते हैं। इस वैज्ञानिक बात को कर्मशास्त्र की भाषा में खोजें तो हमें और अधिक सूक्ष्मता में जाना पड़ेगा कि कर्म का जैसा रस होता है, जैसा विपाक होता है, वैसी ही परिणति होती है आदमी में। कर्म-शास्त्र की भाषा में कर्म के रसायन को और शरीर-शास्त्र की भाषा में ग्लैण्ड्स के स्राव को अगर ध्यान के द्वारा बदल दिया जाए तो आदमी अपने आप बदलने लग जाता है, उसकी दृष्टि बदल जाती है। जब दृष्टि बदल जाती है तब अर्थ अधिक सार्थक बन जाता है।

नट मंडली के सदस्य अपने करतब दिखा रहे थे। एक नटनी नाचते-नाचते थक गई। पर कोई दान नहीं मिला। उसने अपने पति से कहा—'पतिदेव! रात बीत रही है। न राजा की ओर से और न जनता की ओर से कोई दान आ रहा है। दानपात्र खाली का खाली है। आप कोई ऐसी ताल बजाओ कि दानपात्र भर जाए। मैं अब थक कर चकनाचूर हो गई हूं।' नटिनी ने संकेत की भाषा में सब कुछ कह दिया। उसी समय पति ने कहा—'मा प्रमादी निशात्यये'—सारी रात तो बीत चुकी है अब सूरज उगने को है। रात बीत जाएगी। तू प्रमाद मत कर। नाच को चालू रख।

इस एक वाक्य—'मा प्रमादी निशात्यये'—कमाल कर दिया। अर्थ बहुत सार्थक हो गया। राजकुमार ने अपने गले का हार नट के दानपात्र में डाल दिया। राजकुमारी ने भी हार नट को दे दिया। एक मुनि भी था वहां। वह उठा और अपनी रत्नकंवल को दानपात्र में रख दिया। राजा यह सब देखता ही रह गया। वह समझ नहीं पाया कि यह सब क्या हो रहा है?

उसने राजकुमार से कहा—इतना कीमती हार तुमने नट को कैसे दे दिया? राजकुमार बोला—राजन्! इसमें बहुत बड़ा रहस्य है। सही बात बता दूं। मेरे मन में एक भावना बहुत दिनों से काम कर रही थी कि अब राजा बूढ़ा हो गया है, मर जाए तो मैं राजा बन जाऊं। कभी-कभी यह विचार भी आता था कि राजा को, बाप को, मार कर राजा बन जाऊं। किन्तु अभी-अभी नट के मुंह से जो यह वाक्य सुना कि अरे! रात बीत चुकी है, अब तो थोड़ा-सा समय बचा है, ऐसा क्यों सोच रहा है। उससे मेरी सारी दृष्टि बदल गई। मैंने सोचा—ओह, मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। वह मेरा गुरू है। इसने मेरी दृष्टि साफ कर दी। यह हार इसके सामने मूल्यहीन है।'

राजकुमारी से पूछने पर उसने कहा—"मै इतनी बड़ी हो गई। यौवन में प्रवेश कर चुकी हूं। आपने अभी तक मेरे विवाह के विषय में प्रयत्न नहीं किया। मेरे मन में आया कि मैं किसी पुरुष के साथ धन लेकर भाग जाऊं। पुरुष को भी मैंने ढूंढ लिया। भागने की तैयारी में ही थी कि आज नट के वाक्य ने मेरी आंखें खोल दीं। मैंने सुना—अब समय थोड़ा बचा है। सारा बीत चुका है। मुझे दृष्टि मिली। उससे मैं बच गई। हार से अधिक मूल्यवान् है मेरी यह स्थिति।"

राजा ने साधु से पूछा—तुमने बहुमूल्य रत्नकंवल क्यों दे दिया? राजकुमार को राज्य चाहिए था और राजकुमारी को शादी की चाह थी, पर तुम्हें क्या चाहिए था? साधु बोला—साधना करते-करते थक गया। लगा कि मिला कुछ भी नहीं घर जाने की बात सोच रहा था। परिवार का मोह जाग गया। समय की टोह में था किन्तु जैसे ही ये शब्द—"मा प्रमादी निशात्यये"—मेरे कानों में पड़े तो लगा कि पचास वर्ष तो बीत चुके हैं, अब थोड़ा-सा जीवन शेष है इसमें यह अनर्थ क्यों करूं? अब तो सवेरा होने की बात है। साधना का फल मिलने ही वाला है। दृष्टि बदल गई। मन स्थिर हो गया। ऐसा अनुभव हुआ कि यह नट मेरा महान् उपकारी है। इसने मुझे हस्तावलम्बन दिया हैं, संयम से गिरते हुए को बचाया है, हाथ का सहारा दिया है। इस परिवर्तन के समक्ष मेरा रत्नकंबल मूल्यहीन है।

"काल करै सो आज कर"—यह बात भी अनेक घटनाओं की प्रेरक बनती है तो "मा प्रमादी निशात्यये" वह सूत्र भी अनेक घटनाओं का प्रेरक बनता है।

प्रत्येक कथन अनेकान्त के आसपास आकर प्रणत हो जाता है। दोनों बातें होती हैं। हमारी दृष्टि स्पष्ट होती है तो ध्यान का बहुत बड़ा अर्थ है, सार्थकता है। अध्यात्म चेतना को जगाने का बहुत बड़ा अर्थ है। इसे कोई निर्मलदृष्टि वाला व्यक्ति निराशावादी दृष्टिकोण नहीं कह सकता। जिसकी दृष्टि साफ नहीं होती वह ध्यान,

तप, संयम को निराशावादी दृष्टिकोण मानेगा।

ज्ञान की दो सीमाएं

ज्ञान की दो सीमाएं हैं— एक है बुद्धि की सीमा और एक है अनुभव की सीमा। साधना, ध्यान और तपस्या का समूचा मार्ग अनुभव का मार्ग है। यह बुद्धि का मार्ग नहीं है। इसलिए बुद्धिवादी का तर्क इसके विपरीत होता है तो कोई आश्चर्य नहीं है। बुद्धि का काम है तर्क करना। ध्यान और संयम की साधना करने वाला बुद्धि और तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। वह उसका मार्ग ही नहीं है। उसका मार्ग अनुभव का मार्ग है उसकी कसौटी दूसरी होगी। जिस व्यक्ति ने अनुभव की कसौटी पर कस कर देखा, अनुभव का स्वाद जिसने चखा, उसके लिए इससे परम मार्ग कोई नहीं हो सकता। यह मार्ग ही नहीं, परम मार्ग है। यह निराशा नहीं, किन्तु परम आशावादी दृष्टिकोण है। जो बुद्धि की कसौटी पर कसेगा, उसे संभवतः यह निराशावादी दृष्टिकोण लग सकता है। हमें बुरा नहीं मानना चाहिए और आश्चर्य भी नहीं करना चाहिए। तर्क अपना मार्ग होता है। तर्क बहुत उलझाता है। वह उलझाने वाली बात होती है। अनुभव की बात दूसरी बन जाती है।

एक हैड क्लर्क ने दूसरे क्लर्कों से कहा—'आफिस के समय में हजामत कराने चले जाते हैं और बहुत समय लग जाता है। आफिस के समय में हजामत न किया करें।' एक क्लर्क ने कहा—'जब आफिस के समय में बाल बढ़ते हैं तो वे आफिस के समय में कटवाए भी जा सकते हैं। आप ऐसा उपाय करें कि आफिस के समय में बाल न बढ़ें तो हम आफिस के समय में बाल नहीं कटवाएंगे।'

यह तर्क की भाषा है, बुद्धि की भाषा है। जो लोग तर्क और बुद्धि की सीमा में रहते हैं, उनकी यह भाषा होती है।

तीन सीमाएं

तीन सीमाएं हैं। एक है इन्द्रिय-चेतना की सीमा। दूसरी है मनस्चेतन की सीमा। तीसरी है बौद्धिक चेतना की सीमा। हमने इन तीनों सीमाओं का अनुभव किया है। चौथी सीमा भी है। वह है अनुभव चेतना की सीमा। जब तक अनुभव चेतना की सीमा में प्रवेश नहीं होता जब तक सारी बातें ऐसी ही लगती हैं। यह निश्चित है कि जिस व्यक्ति ने ध्यान का अनुभव नहीं किया वह अनुभव की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता। उसका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है।

अभ्यास की सार्थकता

मुझे अनुभव हुआ कि जो लोग पहले दिन ध्यान में बैठते हैं और दसवें दिन

ध्यान कर घर जाते हैं तो वे लोग कहते हैं—हमने यह कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसा हो सकता है। कल्पना की बात ही नहीं थी, कल्पना कैसे की जा सकती है। एक दूर खड़ा आदमी कैसे कल्पना कर सकता है? यह कल्पना का विषय ही नहीं है। जिसने स्वयं डुबकी नहीं लगाई, जिसने स्वयं गोता नहीं लगाया, वह ध्यान के आनन्द का या परिणाम की कल्पना कैसे कर सकता है? समुद्र के तट पर खड़ा रहने वाला व्यक्ति कैसे कल्पना कर सकता है कि समुद्र की कितनी गहराई है। जिसने स्वयं डुबकी लगाई है, गोता लगाया है, वह समझ सकता है कि समुद्र के भीतर में क्या है? हम अपने बाहरी स्वरूप को जानते हैं, भातरी स्वरूप को नहीं जानते। बहुत लोगों का जीवन बाहरी शरीर के स्वरूप-बोध में ही बीत जाता है। कभी उन्हें भीतर जाने का मौका ही नहीं मिलता। लोग सोचते हैं कि शल्य-चिकित्सक को शरीर के भीतरी स्वरूप को देखने का मौका मिलता है। वह भीतर के सारे भाग देख लेता है। नहीं, वह सारा देख नहीं पाता। वह नहीं जानता कि भीतर में क्या है? भीतर के तत्त्वों का ज्ञान उसी व्यक्ति को हो सकता है जो ध्यान की गहराई में जाता है, अध्यात्म की चेतना में डुबकियां लेता है। शरीर-प्रेक्षा करने वाले कई लोग स्पन्दनों को देखकर घबरा जाते हैं। कहां गए थे स्पन्दन? क्या वे नए पैदा हुए हैं? नए नहीं हैं। वे भीतर ही थे, सारे के सारे। वे निरन्तर काम कर रहे हैं। शरीर की विद्युत भी कार्यरत है। किन्तु जैसे-जैसे हम एकाग्र होते हैं, उनका पता लगने लगता है और आदमी घबरा जाता है। उसे लगता है, सारा शरीर झनझना रहा है। कोई नई दुनिया सामने आ गई है। पहले भी ये सारे स्पन्दन कार्यरत थे, पर उनकी आवाज कानों तक नहीं पहुंच रही थी, जैसे ही बाहर आवाज को ग्रहण करने के लिए कान बन्द हुए कि भीतर की आवाज बाहर तक सुनाई देने लगी। जैसे ही मन की चंचलता कम हुई तो भीतर का स्पर्श होने लगा। भीतर की विचित्रता का अनुभव कर आदमी घबरा गया। घबराना अस्वाभाविक नहीं है। हम बाहरी संसार से बहुत परिचित हैं, परन्तु भीतरी जगत् से उतने परिचित नहीं हैं।

अध्यात्म की साधना का एक ही काम है कि वह साधक को भीतर के जगत् से परिचित करा देती है।

हमारा बाहर का परिचय कुछ कम हो, भीतर का परिचय बढ़े। इसमें भी संतुलन आए। दूसरों के प्रति कम जागें, अपने प्रति अधिक जागना शुरू करें। दूसरों को कम जाने, अपने आपको अधिक जानें। यदि ऐसा घटित होता है तो हमारी चेतना में गंभीर परिवर्तन शुरू हो जाता है, व्यक्तित्व में पूरा रूपान्तरण हो जाता है।

ध्यान, अभ्यास बदलने का पहला बिन्दु है। यह पूरा नहीं है। आखिरी बिन्दु

आगे है। बदलने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे तो आखिरी बिन्दु पर पहुंचा जा सकता है। व्यक्तित्व का निरन्तर रूपान्तरण होता रहे। हमारी दृष्टि निर्मल बनती रहे और अनेकान्त का जीवन-दर्शन हमारे सामने रहे। हम आग्रह में न फंसे। हम एकांगी दृष्टि में न जाएं और किसी भी बात को पकड़ कर न बैठें, किन्तु प्रत्येक बात को समझने में सामंजस्य, सापेक्षता, समन्वय और सन्तुलन के विराट् दृष्टिकोण को अपनाएं।

जीवन की समुचित दृष्टि अध्यात्म का बहुत बड़ा फलित है। यह अध्यात्म के बिना उपलब्ध नहीं होती। अध्यात्म की साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे अनेकान्त का जीवन-दर्शन, जो बीज रूप में उपलब्ध हुआ है, विराट् वृक्ष बनकर हमारे सामने लहराता है और तब जीवन-सौरभ चारों दिशाओं में महकने लग जाता है।

०००

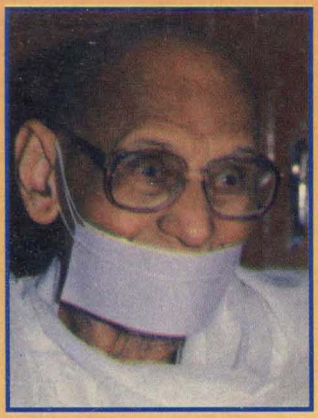

अनेकान्त का एक सूत्र है - सह-प्रतिपक्ष। केवल युगल ही पर्याप्त नहीं है, विरोधी युगल होना चाहिए। समूची प्रकृति में, समूची व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। ज्ञान है तो अज्ञान भी है। दर्शन है, अदर्शन है। सुख है, दुःख है। मूर्च्छा है, जागरण है। जीवन है, मृत्यु है। शुभ है, अशुभ है। ऊँचा है, नीचा है। अन्तराय है, निरन्तराय है। शक्ति का विघ्न है, शक्ति की जागृति है। कर्मशास्त्रीय व्याख्या में विरोधी युगल है।

हमारा जीवन विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। यदि विरोधी युगल समाप्त हो जाएं तो जीवन भी समाप्त हो जाए। हठयोग के आधार पर जीवन की व्याख्या है - प्राण और अपान का योग। प्राणधारा के पांच प्रकार हैं। उनमें एक है प्राण और एक है अपान। प्राण ऊपर से नीचे जाता है, नाभि तक उसके स्पन्दन जाते हैं। अपान नीचे से नाभि तक आता है। जब तक ये विरोधी दिशाएं बनी रहती हैं, यह विपरीत दिशागामित्व बना रहता है - अपान का नीचे से ऊपर आना और प्राण का ऊपर से नीचे जाना - तब तक जीवन है। जब यह क्रम टूट जाता है तब जीवन टूट जाता है। जीवन का टूट जाना या मृत्यु का घटित हो जाना - इसका अर्थ है प्राण और अपान का बाहर निकल जाना। जब विरोधी दिशाएं या विपरीत दिशागामित्व सिमट जाता है तब जीवन समाप्त हो जाता है।

- आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज0)